भाषा में शिक्षा देनी चाहिए जो उसके घर में बोली जाती हो—जिसे वह आसानी से समझ और बोल सकता हो। पर-भाषा में शिक्षा देने से विद्यार्थी को पहले तो एक नई भाषा सीखनी पड़ती है। सो भी एक कठिन परदेशी भाषा, जिसका स्कूल-कालेज के सिवा और बहुत कम काम पड़ता है और जो घर तथा समाज में प्रयुक्त नहीं होती। ऐसी भाषा सीखने और अच्छी तरह समझने में कोई १८ या २० वर्ष लग जाते हैं। इतना परिश्रम करने पर भी और इतना समय व्यतीत करने पर भी कितने लोग परदेशी भाषा को मातृभाषा की तरह सीख सकते हैं? इस समय भारत में बहुत ही थोड़े मनुष्य ऐसे होंगे जो अँगरेजी भाषा पर इतना अधिकार रखते होंगे कि अँगरेजों की तरह वे उसे बोल सकते हों, लिख सकते हों या और किसी प्रकार से उसका प्रयोग कर सकते हों। यह नितान्त भ्रम है कि एक देशवाला दूसरे देशवालों की भाषा बिना उस देश में जीवन व्यतीत किये पूरी तौर से सीख सकता है। यदि कुछ इने-गिने लोग ऐसा कर भी लें तो भी जाति की जाति ऐसा नहीं कर सकती। परदेशी-भाषा सीखना तो कठिन हुई है, उसके द्वारा भिन्न-भिन्न विषयों की शिक्षा प्राप्त करना और भी कठिन है। उदाहरण के लिए दूर जाने की जरूरत नहीं। वह तो हमारे सामने सदा ही उपस्थित है। हमारे भारतीय विद्यार्थी बड़े ही परिश्रम से अँगरेजी भाषा सीखते हैं। उसका व्यवहार करके वे किसी प्रकार विश्वविद्यालयों की उपाधियाँ ग्रहण करते हैं। इस प्रगाढ़ परिश्रम से उनका शरीर बहुत कुछ निकम्मा हो जाता है। कितने ही होनहार नवयुवक विद्यार्थी जन्म भर के लिए रोगी और निर्बल, अतएव तेजोहीन हो जाते हैं। फिर घर पर इस्तैमाल करने की भाषा और, और शिक्षा ग्रहण करने की भाषा और, इन दो भाषाओं की कठिन चक्की में हमारा मस्तिष्क इतना पिस जाता है कि हममें ज्ञान-सम्पादन करके उसको धारण करने की शक्ति ही नहीं रह जाती। और, सम्पूर्णरूप से परदेशी भाषा न समझने के कारण, जिन-जिन विषयों को हम पढ़ते हैं उनको हृदय से ग्रहण नहीं कर पाते—उनका रहस्य नहीं समझ पाते। अतएव हमें सदा विषय की व्यापकता और उसके तत्त्वों को छोड़कर शब्दों ही पर अधिक ध्यान देना पड़ता है। भिन्न-भिन्न शास्त्रों के विशेष-विशेष शब्दों और उनकी परिभाषाओं को हम तोतों के सदृश रट लेते हैं और फिर वैसा ही परीक्षा के समय कागज पर ज्यों का त्यों उगल देते हैं। पर न तो हम यही अच्छी तरह जानते हैं कि हमने क्या पढ़ा है और न यही कि क्या लिख आये हैं। फोनोग्राफ का काम जैसे शब्द को ग्रहण करना और फिर बाहर निकाल देना है—उसके अर्थ इत्यादि से वह कुछ सरोकार नहीं रखता—ठीक वैसी ही दशा हमारी हो रही है। ऐसी घोखम्पट्टी से न तो ज्ञान की मात्रा ही बढ़ सकती है, न बुद्धि का विकास ही हो सकता है।

मातृभाषा छोड़कर किसी अन्य भाषा में शिक्षा देने की रीति किसी भी देश में नहीं। रीति क्या और देशों के दिमाग में तो यह कल्पना तक नहीं आती। फिर भारत ही में यह कुरीति क्यों इतना कराल रूप धारण किये हुए है? इसके तीन कारण मालूम होते हैं। पहला तो यह कि राजा और प्रजा की भाषा भिन्न-भिन्न है। राजा अपने सुभीते के लिए चाहता है कि हमारी भाषा का प्रचार हो। बहुत-सी जीविकाओं की प्राप्ति इसी भाषा के ज्ञान पर अवलम्बित होने के कारण प्रजा को यह भाषा पढ़नी पड़ती है। फिर राजा का प्रभाव प्रजा पर इतना पड़ता है कि धीरे-धीरे प्रजा आप ही राजा की भाषा सीखने लगती है। यही नहीं, वह राजा की रहन-सहन इत्यादि ऊपरी बातों की भी नकल करने लगती है।

दूसरा कारण यह है कि इस देश में कई भाषाएँ हैं। अतएव इनमें किसी एक भाषा को ही प्रधान स्थान देना कष्टसाध्य है। इस विषय में मानुषीय प्रकृति भी बाधक है। भिन्न-भिन्न भाषा-भाषियों में अपनी-अपनी भाषा का प्रेम इतना अधिक होता है कि वे उसे छोड़कर दूसरी भाषा को अग्र-स्थान देना पसन्द नहीं करते। कुछ मनुष्यों की प्रकृति इतनी अद्भुत है कि घर की सब भाषाओं को छोड़कर यदि कोई अन्य भाषा आवे तो वे उसका स्वागत करने को सदा प्रस्तुत रहते हैं। घरेलू व्यवहार ही में देख लीजिए। प्रायः भाई-भाई भी आपस में मेल नहीं रखते। यदि कोई बाहरी आदमी आकर मेल करावे तो निपटारा हो जाता है। इस विषय में भाई-भाई किसी दूसरे का अधिकार तक मानने को एक पैर के बल खड़े हो जाते हैं।

तीसरा कारण यह है कि हमारी देशी भाषाओं में इस समय यथेष्ट बल नहीं। उनका शब्द-भाण्डार इतना हीन है कि उनके द्वारा आधुनिक संसार में बड़े-बड़े गहन विषयों की शिक्षा प्रायः नहीं दी जा सकती। यदि हमें

संसार के और देशों के साथ चलना और उनकी बराबरी करना है तो हमें उचित है कि हम इस समय किसी एक यूरोपीय भाषा के द्वारा शिक्षा ग्रहण करें और सब विषयों तथा शास्त्रों में प्रावीण्य प्राप्त करें।

इन तीन कारणों को, पक्षपात-रहित होकर, हमने आप पर प्रकट कर दिया है। अब इन पर हमारा उत्तर भी सुन लीजिए। राज-भाषा-सम्बन्धी जो पहला कारण बताया गया है वह यथार्थ है। परन्तु साधारण राजकार्य के लिए राजभाषा के जितने ज्ञान की आवश्यकता है वह तो बहुत थोड़े ही परिश्रम से प्राप्त हो सकता है। जितने लोग राज-कर्मचारी का पद प्राप्त करने की अभिलाषा रखते हैं (ऐसे बहुत से लोग हैं और होना उचित भी है) वे आवश्यकता के अनुसार राज-भाषा का ज्ञान प्राप्त करें। विचार करने पर ज्ञात होता है कि राज.कर्मचारियों को परदेशी भाषा के बहुत अधिक ज्ञान की आवश्यकता नहीं। न्यायालयों और अन्यान्य कार्यालयों--सरकारी दफ्तरों में देशी ही भाषा का अधिक ज्ञान दरकार है। राज-भाषा के थोड़े ही ज्ञान से काम चल सकता है। विज्ञान, गणित-शास्त्र, दर्शनशास्त्र, न्याय-शास्त्र, इतिहास, अर्थशास्त्र आदि जिन गहन विषयों का अध्ययन हमने स्कूल-कालेजों में अँगरेजी भाषा के द्वारा किया है उन विषयों पर अँगरेजी में लिखी गई जिन मोटी-मोटी पुस्तकों का अवलोकन किया है उनका वहाँ बहुत ही कम काम पड़ता है। इनका उद्देश केवल ज्ञान-प्राप्ति था। जीविका से उनका सम्बन्ध नहीं था। यदि यही पुस्तकें और यही शास्त्र हमको अपनी भाषा के द्वारा पढ़ाये जाते तो उनका ज्ञान, परीक्षा के बाद ही, लोप न हो जाता, किन्तु हमारे हृदय और मस्तिष्क को वे सदा हरा-भरा रखते और हमारी जीवनयात्रा में सहचर सखा के सदृश सहायता देते।

दूसरे कारण के विषय में यह निवेदन है कि भारतवर्ष के प्रायः प्रत्येक प्रान्त की भाषा जुदा-जुदा है। एक प्रान्त-वासी दूसरे प्रान्तवासी की भाषा के द्वारा शिक्षा ग्रहण नहीं करता। प्रान्त-प्रान्त के लोगों में भाषा के सम्बन्ध में परस्पर वैमनस्य है। इस कारण किसी एक भाषा को समस्त देश नहीं ग्रहण कर सकता। और, जब तक देश में एक भाषा राष्ट्रभाषा न हो तब तक ऐक्य कदापि नहीं फैल सकता। क्योंकि बाहरी व्यवहार में भाषा ही ऐसी सर्व-श्रेष्ठ रज्जु है जो एक मनुष्य को दूसरे मनुष्य से बाँध सकती है। एक ही भाषा-भाषी, चाहे संसार के दूर-दूर प्रदेशों में भी रहते हों, पत्रादि से आपस का स्नेह अक्षुण्ण रख सकते हैं। परन्तु यदि भिन्न भाषा-भाषी एक ही मकान में भी रहते हों तो भी एक-दूसरे पर अपना भाव नहीं प्रकट कर सकते। इस दशा में उनमें प्रेम का संचार कदापि नहीं हो सकता। यह अत्यन्त स्पष्ट और ध्रुव सत्य है। यह तो हुआ दूसरे कारण का उत्तर।

अब रहा तीसरा कारण। सो यह तो प्रत्यक्ष ही है कि हमारी प्रान्तीय भाषाएँ इतनी प्रभावशालिनी और इतनी विस्तृत नहीं हैं जितनी वर्तमान योरोपीय भाषायें हैं। इस कारण हमारी भाषा का ज्ञान-भाण्डार--अर्थात् साहित्य उतना उन्नत नहीं जितना किसी भी विषय की शिक्षा के लिए आवश्यक है। भूगोल, इतिहास आदि चाहे जिसको ले लीजिए, अँगरेजी भाषा में पढ़ने के लिए हजारों पुस्तकें मौजूद हैं, जिनसे हम अपनी मनस्तृप्ति कर सकते हैं। पर हमारी प्रान्तीय भाषाओं की दशा ऐसी नहीं। इसका समाधान यों किया जा सकता है कि यदि प्रान्तीय भाषाओं में शिक्षा देने का प्रबन्ध हो जाय तो बात की बात में सहस्रों पुस्तकें तैयार हो जायँगी। यदि लोगों को प्रान्तीय भाषाएँ पढ़ने-लिखने का चसका लग जाय तो पुस्तकों के निर्माण में विलम्ब न होगा। ऐतिहासिक दृष्टि से यदि हम देखें तो हमको ज्ञात हो जायगा कि जिस समय योरप में अँगरेजी, फरासीसी, इटालियन आदि भाषायें केवल हीन दशा में--ग्रामीण रूप में--थीं और सब शिक्षित समाज लैटिन भाषा के द्वारा ही कार्य-निर्वाह करता था उस समय कई महानुभावों ने अनुभव किया कि लैटिन से शिक्षा का विस्तार कदापि नहीं हो सकता। अतएव उन्होंने निश्चय किया कि हम अपनी बोल-चाल की भाषाओं की ही उन्नति करें ताकि लैटिन की तरह उनका भी विस्तार और प्रचार हो। इस बात को आज मुश्किल से ४०० वर्ष हुए होंगे। पर इतने ही समय में अब योरप की भाषायें इतनी प्रभावशालिनी और उन्नत हो गई हैं कि लैटिन उनके बहुत पीछे रह गई है। इन ग्रामीण भाषाओं को सर्वांग-पुष्ट और सुन्दर करके आज योरप के देश ज्ञान-गिरि पर विहार कर रहे हैं। ४०० वर्ष पहले अँगरेजी और फरासीसी भाषाओं की दशा जैसी थी उससे सौ गुनी अच्छी दशा हमारी प्रान्तीय

भाषाओं की आज है। थोड़े ही परिश्रम और थोड़े ही यत्न से इन भाषाओं में बल और दृढ़ता आ सकती है। उनकी उन्नति के लिए ४०० वर्षों की आवश्यकता नहीं। क्योंकि जिस समय लैटिन भाषा के द्वारा शिक्षा न दी जाने लगी उस समय योरप में ज्ञान की मात्रा भी कम ही थी। हमें तो अपने प्राचीनतम अनुभव के साथ-साथ अन्य लोगों के ४०० तथा इससे भी अधिक वर्षों के अनुभव का लाभ प्राप्त है। अतएव यह संचित ज्ञान और अनुभव अपनी ही भाषा की उन्नति के लिए काम में लाना चाहिए। बस इसी की आवश्यकता है। नई-नई पुस्तकें लिखने के सिवा हम योरोपीय ग्रन्थ-रत्नों का अनुवाद अपनी भाषाओं में शीघ्रता और प्रचुरता से करें, जिससे वहाँ का भी वैज्ञानिक और शास्त्रीय ज्ञान हमारे हाथ लग जाय।

पूर्वोक्त विवेचन से सिद्ध है कि हमें अपनी ही भाषा द्वारा अधिकांश शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए; पर इस सम्बन्ध में एक बात कहना आवश्यक है। चाहे सब विषयों की शिक्षा हमको अपनी मातृभाषा में दी जाय; पर हमें उस भाषा को न भुलाना चाहिए जो देश की पुरातन भाषा है, जिसका साहित्य अमूल्य है और जिसको हमारे पूर्वजों ने अपनाया था। संस्कृत-भाषा के ज्ञान बिना हिन्दू-धर्म और देश की मर्यादा का गर्व हमें नहीं हो सकता। स्कूल में थोड़ी-बहुत संस्कृत अवश्य पढ़ाई जाय, जिससे उसका संस्कार हम में बना रहे और आगे चलकर यदि उसका अधिक ज्ञान हम प्राप्त करना चाहें तो सरलता से प्राप्त कर सकें। संस्कृत भाषा के सिवा थोड़ी-सी फारसी भाषा का भी ज्ञान अब आवश्यक है। हमारे मुसलमान भाइयों का प्राचीन साहित्य इसी भाषा में है। इस भाषा के ज्ञान से हममें और उनमें अधिक सहानुभूति बढ़ेगी। अब इस देश को न हिन्दू छोड़ सकते हैं और न मुसलमान। अतएव जिस उपाय से हममें परस्पर स्नेह बढ़े उसी को काम में लाना चाहिए, जिससे आपस में विरोध और वैमनस्य की जड़ ही कट जाय।

१९१६

❀ ❀ ❀

वाणिज्य-व्यवसाय-सम्बन्धी सुधार

श्री शिवप्रसाद गुप्त

देशरूपी शरीर का प्रधान अंग वाणिज्य-व्यवसाय है। देश की आर्थिक अवस्था और व्यवस्था से उसका घनिष्ठ सम्बन्ध है। जब तक किसी देश में आर्थिक स्वतंत्रता नहीं होती, अर्थात् वहाँ के निवासियों को देश का धन-व्यय करने का अधिकार नहीं होता, तब तक देश के वाणिज्य का पनपना सम्भव नहीं। उसी तरह जब तक देश की सामाजिक व्यवस्था पर भी देशवासियों ही का पूर्ण अधिकार नहीं होता तब तक देश की व्यावसायिक अवस्था भी सुधर नहीं सकती।

उपर्युक्त कथन से मेरा अभिप्राय यह है कि जब तक एक देश के निवासियों को यह अधिकार प्राप्त नहीं होता कि वे जनता से प्राप्त धन को अपनी आवश्यकता के अनुसार व्यय करें; विदेश से आये हुए माल पर कर लगावें; जिन्हें वे अनुचित और अनुपयोगी समझें, उन वस्तुओं को देश में आने से रोकें, और तत्सम्बन्धी अपने और अधिकारों की रक्षा विदेश में करें, तब तक उनके वाणिज्य की उन्नति नहीं हो सकती।

इसी प्रकार जब तक देश में उत्पन्न होनेवाले कच्चे बाने पर देशवासियों का पूरा अधिकार नहीं होता, देश के व्यवसाय को उचित लाभ पहुँचाने का प्रबन्ध स्वयं वे नहीं करते, तथा देश के व्यवसाय को विदेशी व्यवसायियों से बचाने का अधिकार उन्हें प्राप्त नहीं होता, तब तक देश के व्यवसाय की यथेष्ट उन्नति नहीं हो सकती।

पर यदि ध्यानपूर्वक देखा जाय तो पूर्वोक्त कोई भी अधिकार भारतनिवासियों को प्राप्त नहीं। भारत-सरकार ने "खुले दरवाजे" वाले वाणिज्य (Free Trade) की प्रथा भारत में चला रक्खी है। यह प्रथा

चाहे उन्नत देशों को लाभदायक हो, किन्तु भारत ऐसे देश के लिए लाभदायक नहीं।

योरप में भयंकर युद्ध छिड़ जाने के कारण, शत्रुओं के देश से भारत में माल आने की मुमानियत हो जाने के कारण, अब भारतीय जनता और भारत-सरकार की आँखें कुछ-कुछ खुलने लगी हैं। भारतवासियों को अब अच्छी तरह मालूम हो गया है कि हमारा पैसा केवल इँगलिस्तान के ही व्यवसायी नहीं ले जाते (ये तो एक प्रकार से हमारे ही हैं; अतएव इनके पास रहा धन तो मानो हमारा ही है)। किन्तु हमारे विदेशी व्यापार का अधिकांश धन अब तक हमारे शत्रुओं को मिलता था, जो आज हमारे ही रुधिर-पात में काम आ रहा है। किन्तु हमें, इस समय, शत्रुओं अथवा मित्रों का विचार नहीं करना। हमें आज केवल इस दृष्टि से विचार करना है कि हमारे व्यवसाय और वाणिज्य से कितना धन हमें प्राप्त होता है और कितना बाहरवालों की जेबों में जाता है। इस सम्बन्ध में जो सुधार हम चाहते हैं उसका अर्थ यह है कि हमारे वाणिज्य और व्यवसाय से हमीं को दिन-दिन अधिकाधिक लाभ हो और हमारा धन गैरों की गाँठ में जाने से बचे।

इन्हीं सब बातों पर विचार करने के लिए भारत-सरकार ने सरकारी तथा गैर-सरकारी सज्जनों की एक समिति (कमीशन) बनाई है। यह समिति भारत भर में दौरा करेगी और इस विषय का अनुसन्धान करके सरकार को यह बताने का यत्न करेगी कि भारत के व्यवसाय की किस प्रकार उन्नति की जाय और भारतीय-वाणिज्य किस तरह से राष्ट्रीय बनाया जाय।

मालूम नहीं, यह समिति सरकार को क्या सलाह देगी या इसे किन-किन बातों पर विचार करने की आज्ञा है तथापि देशी सदस्यों के विचारार्थ कतिपय सूचनायें करना आवश्यक है। वे सूचनायें ये हैं:—

(१) भारत के वाणिज्य की उन्नति का सबसे बड़ा कण्टक यहाँ की मुद्रा-प्रणाली है। भारत का प्रधान सिक्का रुपया है जो चाँदी का बनाया जाता है। इस कारण हमारे वणिकों को लेन-देन में विदेशियों से हानि उठानी पड़ती है। इसके प्रधान कारण दो हैं—

(अ) चाँदी के भाव की अस्थिरता के कारण—उसके दिन-दिन घटने-बढ़ने के कारण—हमारे सिक्के का भाव भी विदेशों में घटा-बढ़ा करता है। इस कारण लेन-देन में विदेशी मुद्रा (सिक्के) में ही हिसाब-किताब करना पड़ता है। इससे लेन-देन दोनों में हमें हानि ही होती है।

(आ) हमारी मुद्रा वास्तविक नहीं; सांकेतिक है। १६ आने की समझी जाने पर भी उसमें १० आने से अधिक की चाँदी नहीं। इसलिए विदेश में हमारे १) का मूल्य ॥=) से अधिक नहीं होता। अतएव विदेशवासियों से धन पाते समय हमें १०० के मूल्य की चीज पर कोई ६२॥) की चाँदी अथवा इतनी ही चाँदी के मूल्य का सोने का सिक्का, मिलता है।

इसी तरह उन्हें देते समय हमें कोई ६२॥) के मूल्य की चीज के लिए १००) देने पड़ते हैं। इसमें हमें दुहरा घाटा होता है। इसलिए देशी सदस्यों से मेरी सविनय प्रार्थना है कि समिति की जाँच का विवरण लिखते समय सरकार से मुद्रा-प्रणाली में सुधार करने के लिए नीचे लिखी हुई प्रार्थनायें की जायँ।

१—भारत में चाँदी की जगह सोने का सिक्का चलाया जाय।

२—सांकेतिक मुद्रा की जगह वास्तविक मुद्रा का प्रचार किया जाय।

३—मुद्रा-प्रणाली दशमलव के सिद्धान्त पर बनाई जाय। इससे हिसाब-किताब में और भी सुगमता होगी।

इससे मेरा अभिप्राय यह है कि प्रधान मुद्रा पूरे १०० भागों में विभक्त हो। यदि उसके भी छोटे-छोटे अंश करना अभीष्ट हो तो वे भाग भी दस-दस के किये जायँ। अर्थात् १) के १०० पैसे। यदि १ पैसे से भी छोटा भाग करना हो तो पैसे के भी १० भाग करके प्रत्येक भाग का कुछ नाम रख दिया जाय।

(२) व्यवसाय की उन्नति के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि 'खुले दरवाजे" व्यवसाय को एकदम देश-निकाला दे दिया जाय। उसके स्थान में सुरक्षित व्यवसाय का सिद्धान्त व्यवहार में लाया जाय और विदेशी मालों पर कर लगाया जाय। इस सम्बन्ध में जो सुधार आवश्यक जान पड़ते हैं वे ये हैं—

(अ) स्वदेशी व्यवसाय को उन्नत करने के लिए जहाँ स्वदेशी व्यवसायियों को धन और मन से एक ओर सहायता देनी पड़ेगी तहाँ दूसरी ओर विदेशी मालों पर कर लगाकर उन्हें देश में आने से रोकना पड़ेगा। इस

सम्बन्ध में रोक-टोक दो प्रकार की होनी उचित है। एक तो शत्रु-देशों के प्रति, दूसरे मित्र-देशों के प्रति। शत्रुओं के माल पर तो इतना कर लगाना चाहिए कि वह कुछ दिनों तक देश में आकर बिक ही न सके। मित्र-देशों के मालों पर भी इतना कर लगाना होगा कि उनका माल देश में आकर देशी मालों से किसी प्रकार सस्ता न बिक सके।

(आ) ऐसे मालों पर जिनके लिए वहाँ की सरकार से सहायता मिलती हो--फिर वे चाहे शत्रु-देशों के हों--चाहे मित्र-देशों के हों--इतना कर लगा देना चाहिए जिससे वे स्वदेश में आकर स्वदेशी व्यवसाय को हानि न पहुँचा सकें।

(इ) देश से कच्चा बाना अपरिमित परिमाण में बाहर जाता है। वह बन्द होना चाहिए। यह दो प्रकार से हो सकता है--एक तो ऐसी आज्ञा देने से कि कतिपय वस्तुयें, जिनकी हमें अधिक आवश्यकता है, बाहर जाने ही न पावें; दूसरे ऐसे नियम बनाने से कि बाहर सिर्फ वही वस्तुएँ जाने पावें जिनके जाने से देश की और अधिक हानि न होती हो। और, बाहर जानेवाली वस्तुओं पर इतना कर लगाया जाय जिसमें वे पक्के माल के रूप में भारत लौटने पर देशी माल से सस्ती न बिक सकें।

कर लगाते समय एक बात का ध्यान अवश्य रखना चाहिए। वह यह कि ऐसे मित्र-देशों के माल, जो अब तक बाजार में, शत्रुओं के मालों के रहने के कारण उनके मुकाबिले में मँहगे नहीं बेंचे जा सकते थे, शत्रुओं के माल का एकदम अभाव हो जाने के कारण मँहगे न बिकने लग जायँ। क्योंकि फिर उन्हें मुकाबिले का भय बाकी न रह जायगा। इसलिए उन पर भी यथेष्ठ कर लगाना उचित है, जिससे देश की हानि न हो।

सारांश यह कि भारत के हित की ओर दृष्टि रखकर कर-पद्धति की सृष्टि होनी चाहिए; अन्य राष्ट्रों के हित की दृष्टि से नहीं। अर्थात् जिस प्रकार ब्रिटिश साम्राज्य के अन्य अंग, आस्ट्रेलिया इत्यादि, में स्वदेश के वाणिज्य और व्यवसाय के उपकार को ध्यान में रखकर कर-पद्धति निश्चित की जाती है उसी प्रकार यहाँ भी की जानी चाहिए।

(३) इन सुधारों के साथ-साथ और भी कितने ही सुधार होने चाहिए--

यथा १—भारत की रेल-कम्पनियों ने माल ले जाने के लिए किराये का जो नियम बनाया है उससे विदेशी वणिकों को तो लाभ होता है और भारतीय वणिकों को हानि। इसलिए भारत-सरकार रेल-कम्पनियों का प्रबन्ध कम्पनियों के हाथ से निकालकर स्वयं अपने हाथ में ले ले, जिससे रेल-द्वारा, भविष्यत् में, देशी वणिकों और व्यवसायियों को हानि न पहुँचे।

२—आन्तरिक व्यापार (Internal Trade) अर्थात् देश के भीतर इधर-उधर माल ले जाने के लिए जल-मार्ग का भी उपयोग फिर से दिन-दिन अधिकाधिक बढ़ाना चाहिए। जल-मार्गों के पुनर्जीवन से आन्तरिक व्यापार की उन्नति का एक स्वाभाविक साधन हाथ लग जायगा।

(४) देश में दुर्भिक्ष दिन-दिन अपनी दारुणता दिखाता जाता है। उसे रोकने के लिए खाद्य-पदार्थों का बाहर जाना एकदम रोक देना चाहिए। उन्हें शत्रु-देशों में जाने देने की तो सख्त रुकावट होनी चाहिए। यहीं नहीं, मित्र-देशों में भी उतनी ही चीजें जाने पावें जितनी घर की आवश्यकता पूर्ण करने के उपरान्त बच सकें। अर्थात् एक दाना भी बाहर जाने के पहले इसका अन्दाजा लगा लेना चाहिए कि दो वर्षों के लिए देश में कितनी अन्न-सामग्री दरकार होगी। तब जितना बचे उतना मित्र-देशों में जाने दीजिए।

(५) भारत में भिन्न-भिन्न तोल, माप और गणना होने के कारण देश के भीतरी व्यवसाय में बड़ी कठिनाई उपस्थित होती है। इसका भी सुधार होना आवश्यक है। अर्थात् देश भर में एक ही प्रकार की तोल, माप और गणना की प्रथा का प्रचार होना चाहिए।

ये कतिय विचार सुधार के मार्ग में दिग्दर्शन मात्र हैं। अन्य अनुभवी और अर्थ-शास्त्र के ज्ञाताओं को इस सम्बन्ध में अपने-अपने विचार प्रकट करके जनता और सरकार को सचेत करना उचित है।

१९१६

* * *

लिच्छवि-वंश का इतिवृत्त

श्री जनार्दन भट्ट

प्राचीन काल से भारतवर्ष विदेशियों को अपनी गोद में शरण देता चला आया है। न मालूम कितनी विदेशी जातियाँ भारतवर्ष में आईं और हिन्दू-समाजरूपी समुद्र में विलीन हो गईं। वे सब की सब चारों वर्णों में से किसी न किसी वर्ण में मिल जुल कर हिन्दू बन गईं। ऐसी जातियों में प्राचीन वैसाली की लिच्छवि जाति भी है। मनुस्मृति में लिच्छवि (निच्छिवि) लोग व्रात्य क्षत्रियों में गिने गये हैं। मनुजी लिखते हैं—

झल्लो मल्लश्च राजन्याद् व्रात्यान्निच्छिविरेव च।
नटश्च करणश्चैव खसो द्रविड एव च॥

हिन्दू-शास्त्रों में व्रात्य वह कहा गया है जो संस्कार और प्रधानतया यज्ञोपवीत-संस्कार न करने से जातिच्युत हो गया हो। उक्त श्लोक से और व्रात्य शब्द की इस परिभाषा से यह निष्कर्ष निकलता है कि लिच्छवि-जाति यद्यपि क्षत्रिय वर्ण के अन्तर्गत गिनी जाती थी, तथापि मनु के समय में न तो वह यज्ञोपवीत धारण करती थी और न शास्त्रोक्त प्रधान प्रधान संस्कार ही करती थी। वास्तव में लिच्छवि लोग उस समय विदेशी समझे जाते थे। और, इसी से उनके लिए शास्त्रोक्त नियमों का पालन करना उतना जरूरी न था। सिगाल-जातक (शृगाल-जातक) से सिद्ध है कि ईसा के पूर्व तीसरी या चौथी शताब्दी में लिच्छवि लोग बहुत प्रसिद्ध और उच्च कुल के गिने जाते थे। जातक पाली भाषा का बहुत प्राचीन ग्रन्थ है। रीज डेविड्स साहब के मत से जातक-कथाओं का रचना-काल ईसा के पूर्व तीसरी या चौथी शताब्दी है। शृगाल-जातक के उस अंश को हम यहाँ पर उद्धृत करते हैं जिसमें लिच्छवियों का उल्लेख है—

वेसालिंवासिको एको नहापितो एकदिवसं राजनिवेसने कम्मं कातुं गच्छन्तो अत्तनो पुत्तं गहेत्वा गतो। सो पुत्तो तत्थ एकं लिच्छविकुमारिकं दिस्वा किलेसवसेन परिबद्धचित्तो हुत्वा पितरा सद्धिं राजनिवेसना निक्खमित्वा—एतं कुमारिकं लभमानो जीविस्सामि, अलभमानस्स मे एत्थ एव मरणं इति। आहारूपच्छेदं कत्वा मंचकं परिसज्जित्वा निपज्जि। अथ नं पिता उपसंकमित्वा—तात, हीनजच्चो त्वं नहापितपुत्तो, लिच्छविकुमारिका खत्तियधीता जातिसम्पन्ना, न सा तुम्हं अनुच्छविका। अज्जं ते जातिगोत्तेहि सदिसकुमारिकं आनेस्सामीति—आह। सो पितु कथं न गण्हाति। अथ नं माता भाता भगिनी सब्बेपि ञ्ञातका चेव मित्तसुहज्जा च सन्निपतित्वा संजपेन्तापि संजापेतुं नासक्खिसु। सो तत्थ एव जीवितक्खयं पापुणि।

अर्थात् वैसाली का रहनेवाला एक नाई एक दफे राजा के महल में हजामत बनाने के लिए, अपने पुत्र के साथ, गया। उसका पुत्र वहाँ एक सुन्दरी लिच्छवि-कुमारिका को देखकर उस पर प्रेमासक्त हो गया। राजप्रासाद से पिता के साथ जब वह बाहर निकला तब अपने पिता से कहने लगा—"यदि यह लिच्छवि-कुमारिका मुझे मिलेगी तो मैं जिऊँगा; नहीं तो अपने प्राण त्याग दूँगा।" यह कहकर वह आहार छोड़कर सो गया। तब उसका पिता उसे समझाने लगा—"तात! तुम हीन जाति के—नाई के—लड़के हो, और वह लिच्छवि-कुमारिका क्षत्रिय कन्या तथा उच्च कुल की है। वह तुम्हारे योग्य नहीं है। तुम्हारे लिए कोई दूसरी कुमारी ढूंढ़ देंगे, जो जाति-कुल में तुम्हारे अनुरूप होगी।" इसी तरह माता-भ्राता, भगिनी इत्यादि सभी उसे समझाकर थक गये, किन्तु उसने एक की भी न सुनी। बिना अन्न-जल के उसने अपने प्राण त्याग दिये।

ऐसा मालूम होता है कि लिच्छवि लोग भारतवर्ष में निसिबिस से आये जो, यूनानी इतिहासज्ञ टालेमी के मत में, भारतवर्ष के पश्चिमोत्तर प्राचीन एरिया (आधुनिक हिरात) का एक प्रधान नगर था। मनुस्मृति में लिच्छवि के स्थान पर निच्छिवि शब्द आया है, जो टालेमी के निसिबिस से बहुत कुछ मिलता है। टालेमी यह भी लिखता है कि भारतवर्ष के पश्चिमोत्तर में निसेई अथवा निसिबी नाम की एक जाति उस समय बसती थी। मेगास्थनीज ने भी नेसेई नाम की एक जाति का वर्णन अपने भ्रमण-वृत्तान्त में किया है। यह शब्द भी निच्छिवि या लिच्छवि से मिलता है।

मनुस्मृति के ऊपर लिखे गये श्लोक से पता लगता है कि लिच्छवि-जाति हिन्दू-समाज के नियमों के पालन में बहुत दृढ़ न थी। इसी से वे लोग व्रात्य या जातिच्युत गिने जाते थे। किन्तु बौद्ध ग्रन्थों में उनकी बड़ी महिमा गाई गई है। बौद्ध धर्म के इतिहास में इस जाति का बड़ा नाम है। बौद्ध ग्रन्थों में लिखा है कि बुद्ध के निर्वाण के बाद उनकी अस्थियों के आठ भाग किये गये। उनमें से एक भाग लिच्छवियों को भी मिला। बुद्ध के निर्वाण-काल ईसा के पूर्व ४८७ में निश्चय किया गया है। उसी साल उनकी अस्थियों का विभाग भी आठ हिस्सों में हुआ होगा। जब विभाग होने लगा तब लिच्छवियों ने भी अपना दूत कुशीनगर को भेजा और उसके द्वारा यह कहलवाया कि भगवान् बुद्ध क्षत्रिय थे और हम लोग भी क्षत्रिय हैं। अतएव हम लोगों को भी बुद्ध की अस्थियों का एक भाग मिलना चाहिए। यहाँ पर यह बात ध्यान देने योग्य है वि वही लिच्छवि-जाति जो मनुस्मृति में व्रात्य गिनी गई है यहाँ पर क्षत्रिय बनने का दावा करती है। यहाँ पर एक और बात भी ध्यान देने योग्य है कि लिच्छवि लोगों में उस समय एक प्रकार की प्रजासत्तात्मक राज्य-प्रणाली प्रचलित थी। उस समय उन लोगों में कोई राजा न था। वे केवल पंचायत की आज्ञा पर चलते थे।

भारतवर्ष की प्राचीन राजनैतिक हलचल में भी लिच्छवि लोग शरीक थे। प्राचीन मगध का शैशुनाग-वंश पहला राजबंश है जिसके विषय में ऐतिहासिक प्रमाण काफी तौर पर मिलते हैं। ईसवी सन् के पूर्व, छठी शताब्दी में, इस वंश का पाँचवाँ राजा बिम्बिसार हुआ। उसने कई बड़े-बड़े काम करके शैशुनाग-वंश की कीर्त्ति बढ़ाई। उसने राजगृह की नींव डाली और अंगदेश जीत कर उसे अपने राज्य में मिलाया। उसने दो विवाह किये--एक तो कोशल-देश की राज-कन्या से और दूसरा लिच्छवियों की राजकन्या से। पहली बार इतिहास में लिच्छवियों का जिक्र हम इसी सम्बन्ध में पाते हैं। बिम्बिसार की दूसरी रानी, अर्थात् लिच्छवियों की राजकन्या, से बौद्ध-इतिहास-प्रसिद्ध अजातशत्रु उत्पन्न हुआ, जो अपने पिता की हत्या करके गद्दी पर बैठा, और जिसने लिच्छवियों का देश (आधुनिक तिरहुत) जीत कर अपने राज्य में मिला लिया। बौद्ध ग्रन्थों से पता लगता है कि अजातशत्रु ने बुद्ध भगवान् का साक्षात्कार किया था और उनके सामने अपने पापों के लिए पश्चात्ताप भी किया था। अन्त में वह भगवान् बुद्ध का शिष्य हो गया।

इसके उपरान्त ईसा के पूर्व ५०० वर्ष से लगा कर ईसा के बाद ३०० वर्ष तक--अर्थात् आठ शताब्दियों तक--लिच्छवियों का जिक्र इतिहास में बिलकुल नहीं। ईसवी सन् की चौथी शताब्दी में वे एकाएक फिर इतिहास में दिखाई पड़ते हैं। सन् ३०९ या उसके आसपास गुप्त वंश के चन्द्रगुप्त (प्रथम) ने लिच्छवियों की राजकुमारी कुमार देवी का पाणिग्रहण किया। यह विवाह राजनैतिक दृष्टि से बड़े महत्त्व का था। इसी विवाह से गुप्त-वंश के सौभाग्य का उदय हुआ। ऐसा मालूम होता है कि जिस समय यह विवाह हुआ था उस समय मगध का आधिपत्य लिच्छवियों के हाथ में था; किन्तु इस विवाह-सम्बन्ध से वह राजशक्ति, जो अब तक लिच्छवियों के हाथ में थी, चन्द्रगुप्त (प्रथम) के हाथ में चली गई। अस्तु। इसमें कोई सन्देह नहीं कि इस विवाह-सम्बन्ध के द्वारा चन्द्रगुप्त (प्रथम) एक छोटे जागीरदार से बढ़ कर "महाराजाधिराज" हो गया। इस अनुमान का कारण यह है कि चन्द्रगुप्त (प्रथम) के सिक्कों पर "चन्द्रगुप्त" "श्रीकुमारदेवि", और "लिच्छवयः", इन तीनों का नाम एक साथ खुदा हुआ मिलता है; और उसके पुत्र समुद्रगुप्त तथा अन्य गुप्तवंशी राजा बड़े अभिमान के साथ अपने को "लिच्छवि-दौहित्र" लिखते हैं। इन सब बातों से सिद्ध है कि वही लिच्छवि, जो विदेश से आये और मनुस्मृति में व्रात्य लिखे गये, काल के प्रभाव से इस तरह हिन्दू-समाज में मिल गये और इतने उच्च तथा कुलीन समझे जाने लगे कि उनसे सम्बन्ध करना गुप्तवंशी राजाओं के लिए अभिमान की बात हो गई।

यह बात बड़ी विचित्र है कि नेपाल का राजवंश भी अपनी उत्पत्ति लिच्छवियों से बतलाता है। यहाँ पर हम सन् १८८० की इंडियन-ऐंटिक्वरी (Indian Antiquary) से नेपाल के राजा जगदेव के एक शिलालेख का कुछ भाग उद्धृत करते हैं, जिससे मालूम हो जायगा कि नेपाल का राजा जयदेव अपने वंश की उत्पत्ति लिच्छवियों से मानता था--

सूर्याद् ब्रह्म प्रपौत्रान्मनुरथ भगवान्जन्म लेभे ततोभूदिक्ष्वाकुश्चक्रवर्ती नृपतिरपि ततः श्रीविकुक्षिर्बभूव।

जातः.........विदितो भूमिपः सार्वभौमो,
भूतोस्माद्विश्वगश्वः प्रबलनिजबलव्याप्तविश्वान्तरालः ॥
राजाष्टोत्तरविंशतिक्षितिभुजस्तस्माद् व्यतीत्य क्रमात्
सम्भूतः सगरः पतिः .. ...सागरायाः क्षितेः।
जातोस्मादसमंजसो नरपतिस्तस्मादभूदंशुमान्,
स श्रीमन्तमजीजनन्नरवरो भूपं दिलीपाह्वयम् ॥
भेजे जन्म ततो भगीरथ इति ख्यातो नृपोत्रान्तरे
भूपाला.........जातो रघोरप्यजः।
श्रीमत्तुंगरथस्ततो दशरथः पुत्रैश्च पौत्रैस्समं।
राज्ञोऽष्टावपरान्विहाय परतः श्रीमानभूत् **लिच्छविः** ॥
अस्त्येव क्षितिमण्डनैकतिलको लोकप्रतीतो महाना—
.........प्रभावमहताम्मान्यः सुराणामपि।
स्वच्छं लिच्छविनाम बिभ्रदपरो वंशः प्रवृत्तोदयः
श्रीमच्चन्द्रकलाकलापधवलो गंगाप्रवाहोपमः ॥
तस्माल्लिच्छवितः परेण नृपतीन्हित्वा प.....रं,
श्रीमान् पुष्पपुरे कृती क्षितिपतिर्जातः सुपुष्पस्ततः।

× × ×

तस्माद् भूमिभुजोप्यजायत जितारातेरजय्यः परै-
राजश्रीजयदेव इत्यवगतः श्रीवत्सदेव्यात्मजः।
त्यागी मानधनो विशालनयनः सौजन्यरत्नाकरो
विद्वान्सक्तचिराश्रयो गुणवतां पीनोरुवक्षस्थलः ॥

इस शिलालेख से पता लगता है कि लिच्छवि-जाति नेपाल में इतनी शक्ति-सम्पन्न हो गई थी और उन्नति के इतने ऊँचे शिखर पर पहुँच गई थी कि वह वहाँ सूर्यवंश की एक शाखा समझी जाने लगी थी। नेपाल के राजे अपनी वंशावलियों और शिलालेखों में अपने वंश का प्रारम्भ सूर्य से करते हैं और दशरथ तक उसे सूर्यवंश के अनुसार लाते हैं। दशरथ के बाद ८ राजे और आते हैं। तब **लिच्छवि** सिंहासन पर बैठता है। लिच्छवि के उपरान्त कुछ और राजे गद्दी पर बैठते हैं। उनके बाद सुपुष्प आता है। सुपुष्प के बाद चौबीसवाँ राजा जयदेव (प्रथम) हुआ। जयदेव के उपरान्त वृषदेव, शंकरदेव, धर्मदेव, मानदेव, महीदेव और वसन्तदेव हुए। वसन्तदेव के बाद अनेक राजे हुए, जिनके नाम गिनाने की कोई आवश्यकता नहीं। सारांश यह कि जयदेव के बाद जितने राजे हुए वे सब लिच्छवि-वंश के थे।

गुप्त-काल के राजों के समय से विशेष करके भारत-वर्ष में लिच्छवि-वंश का क्या हाल हुआ, यह इतिहास के गर्भ में छिपा हुआ है। गुप्तकाल में हिन्दू-धर्म के पुनरुज्जीवन के साथ-साथ हिन्दुओं की प्राचीन वर्ण व्यवस्था का भी पुनरुद्धार हुआ। इसी समय वैसाली के प्राचीन लिच्छवि-वंश ने भी कदाचित् बौद्धधर्म को छोड़ कर हिन्दू-धर्म स्वीकार कर लिया। और, कोई आश्चर्य नहीं यदि चीनी यात्री ह्वेनसांग अपनी भारत-यात्रा के वर्णन में यह लिखता है कि ईसा की सातवीं शताब्दी में वैसाली में बौद्ध-धर्म अपनी क्षीण दशा में था और हिन्दू धर्म का प्रचार बढ़ रहा था। ईसा की सातवीं शताब्दी से लगा-कर आज तक प्राचीन वर्णव्यवस्था में धार्मिक, सामाजिक, और राजनैतिक भेदों के आधार पर इतने परिवर्तन हुए हैं कि इस समय भारतवर्ष में लिच्छवि-वंश का कोई चिह्न भी बाकी नहीं। पुरातत्त्व-विभाग की खोजों से यह निश्चित हुआ है कि वैसाली, जहाँ लिच्छवियों का आधिपत्य था, वर्तमान मुजफ्फरपुर जिले में बसाढ़ नाम का गाँव है। ऐसा मालूम होता है कि लिच्छवि लोग, धीरे-धीरे, समीप के गोरखपुर, शाहाबाद, चम्पारन इत्यादि जिलों में फैल गये। असंभव नहीं जो इन जिलों में कुछ वर्तमान लोगों का सम्बन्ध प्राचीन लिच्छवियों से हो।

१९१७

प्राचीन भारतवर्ष में सिले हुए कपड़े

श्री हरि रामचन्द्र दिवेकर

प्रश्न है कि भारतवर्ष के लोग, प्राचीन समय में, सिले हुए कपड़े पहनते थे या केवल चादरों और धोतियों से ही शरीर ढाँकते थे ? देखने में तो यह प्रश्न सुलभ-सा है, पर इस प्रमाण-युग में इसका उत्तर देना कुछ कठिन है। कुछ लोगों का कथन है कि मुसलमानों के आने से पहले यहाँ सिले हुए कपड़ों का रिवाज ही न था। दूसरे लोग यद्यपि इस बात को नहीं मानते तथापि कहते हैं कि "The art of sewing is of semitic origin" अर्थात् कपड़े सीने की कला का प्रथम प्रादुर्भाव पश्चिम की सेमिटिक जातियों में हुआ था। इस पर मुझे कुछ निवेदन करना है।

आजकल प्रमाण मानने की प्रायः यह पद्धति है कि जो बात जिस ग्रन्थ में न पाई जाय वह उस ग्रन्थ के समय में न थी, ऐसा समझा जाता है। पर इस पद्धति से विचार करने वाले कभी-कभी इस बात को भूल जाते हैं कि प्राचीन ग्रन्थ किस निमित्त लिखे गये थे। जिस हेतु से ग्रन्थ लिखा जाता है उस हेतु के अनुकूल बातें यदि उसमें न पाई जायँ तो वे बातें उस समय न थीं, यह मानने में अधिक दोष नहीं। पर जो बातें उस हेतु के अनुकूल न हों, वे यदि उसमें न पाई जायँ तो उनका उस समय अभाव मानना युक्तिसंगत नहीं। उदाहरणार्थ, गणित की किसी पुस्तक में किसी माप का वर्णन न हो तो यह कहना अनुचित न होगा कि वह माप उस समय अप्रचलित थी। पर यदि गणित की किसी पुस्तक में किसी शहर का नाम न मिले और इस कारण यदि कोई यह कहने लगे कि उसके लिखे जाने के समय वह शहर बसा ही न था तो ऐसा कहना कहाँ तक न्याय्य होगा। पर बहुत लोग इसी प्रकार का अनुमान करते हैं। कोई बात ऋग्वेद में नहीं पाई जाती। बस, वह ऋग्वेद के समय में थी ही नहीं! मानों ऋग्वेद-द्रष्टा ऋषियों ने तत्कालीन परिस्थिति का वर्णन करने के लिए ही ऋग्वेद प्रसिद्ध किया था। जिसे ऋषियों ने यज्ञोपयुक्त देवतास्तुतियों तथा उच्च तात्त्विक विचारों के लिए गाया उस वेद में यदि कुछ क्षुद्र बातें न पाई जायँ तो आश्चर्य ही क्या ? अर्थात् ऋग्वेद में यदि किसी बात का पता न लगे तो यह कहना कि यह बात ऋग्वेद-काल में अज्ञात थी, भ्रममूलक है।

इस विचार-परम्परा से केवल इतना ही सिद्ध होता है कि इस प्रकार का निषेधक अनुमान निकालना ठीक नहीं। तथापि विधायक प्रमाण इससे नहीं मिलता। अतः विधायक प्रमाणों की खोज होनी चाहिए। सीने के विषय में अनेक प्रमाण मिलते हैं। उनसे पाठक जानेंगे कि सीने की कला भारतवर्ष में कब से ज्ञात है।

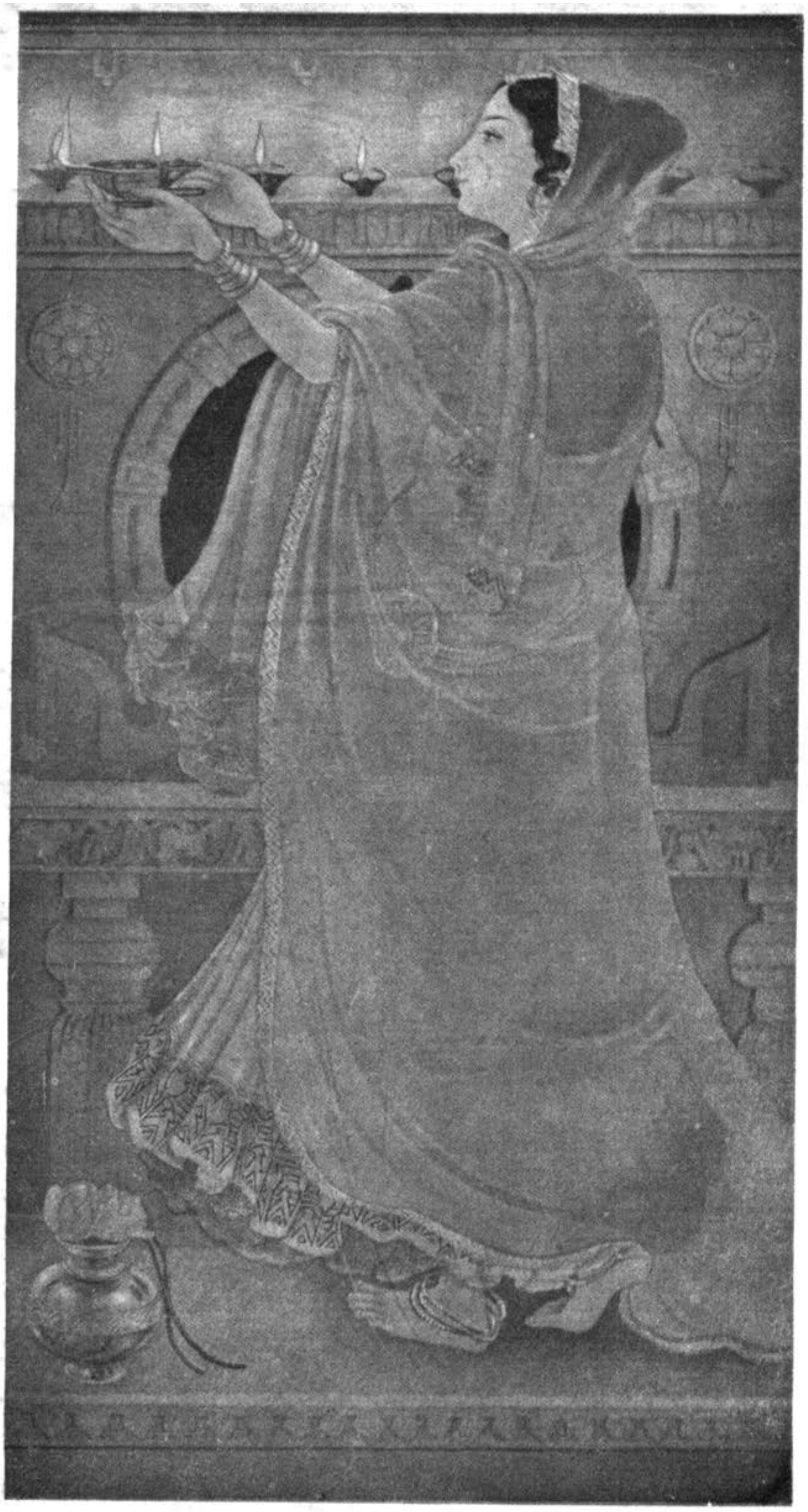
इन प्रमाणों में कालिदास आदि संस्कृत-कवियों के ग्रन्थों से प्रमाण देने का विचार मेरा नहीं। एक तो इन कवियों का काल निश्चित रूप से ज्ञात न होने के कारण वैसे प्रमाणों का इतना उपयोग नहीं। दूसरे इन कवियों में से बहुतेरे ऐसे हैं जिनका काल, भारतवर्ष में मुसलमानों के प्रवेश होने के पश्चात् सिद्ध है। इसलिए श्रुति-स्मृतियों और पुराणों से ही प्रमाण उद्धृत करना उचित है। पुराणों के काल-निर्णय में मतभेद होने पर भी सब पुराण ईसा की छठी सदी के पूर्व के ही माने जाते हैं। इसलिए यदि पुराणों में सिले हुए कपड़ों का वर्णन मिले तो मुसलमानों के पूर्व से ही भारतवर्ष में सिले हुए कपड़ों का प्रचार सिद्ध हो जायगा।

रामायण, महाभारत इत्यादि ग्रन्थों में 'वेष' शब्द अनेक बार पोशाक के अर्थ में आया है। तथापि आक्षेपकर्त्ता महाशयों का समाधान करने योग्य प्रमाण उनमें मुझे नहीं मिले। हाँ, श्रीमद्भागवत में ऐसा प्रमाण मिलता है। दशम स्कन्ध में जब अक्रूर, कंस के आदेश से, श्रीकृष्ण जी को गोपों सहित मथुरा नगरी में ले गये तब एक रजक से श्रीकृष्ण जी ने राजवस्त्र छीन लिये। श्रीमद्भागवतकार लिखते हैं कि उस समय वहाँ पर एक वायक आया। उसने कृष्ण-बलराम की वेष-कल्पना की—

ततस्तु वायकः प्रीतस्तयोर्वेषमकल्पयत्।
विचित्रवर्णैः शैलेयैराकल्पैरनुरूपतः।



राम-भरत-मिलाप
(चित्रकार—वरदाचरण उकील)



जगमग-जगमग दीप जले
(चित्रकार--ब्रजमोहन जिज्जा)

इस श्लोक में वायक शब्द का अर्थ दर्जी के सिवा और कुछ हो ही नहीं सकता अर्थात् श्री मद्भागवत के लिखे जाने के समय दर्जी थे तथा सिले हुए कपड़े लोग पहनते थे, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं। महाभारत में लिखित दुर्योधन की यह उक्ति प्रसिद्ध ही है—

यावद्धि सूच्यास्तीक्ष्णाया विध्येदग्रेण मारिष।
तावदप्यपरित्याज्यं भूमेर्नः पाण्डवान्प्रति॥

यदि उस समय सीने की कला अज्ञात होती तो सूची का काम ही क्या था? "सीव्येत्सूक्ष्मेण सूत्रेण" यह पंक्ति सुश्रुत में भी पाई जाती है। सूई, डोरा, सीना, दर्जी—ये चारों शब्द स्पष्टतया प्रमाणित करते हैं कि इस देश में मुसलमानों का पदार्पण होने के बहुत पहले से ही हम लोग सीना जानते थे और सिले हुए कपड़े पहनते थे।

एक और दृष्टि से देखा जाय तो मुसलमान लोग इस कला के प्रवर्तक हो ही नहीं सकते। Necessity is the mother of invention अर्थात् आवश्यकता पड़ने पर ही नई बातें सूझती हैं। ऋतुमान के खयाल से देखा जाय तो शीत स्थानों में रहनेवालों को सिले हुए कपड़ों की जितनी आवश्यकता रहती है उतनी उष्ण स्थानों में रहनेवालों को नहीं। इससे भी मक्का और मदीना जैसे उष्ण स्थानों के निवासियों को सिले हुए कपड़े पहनने की आवश्यकता प्रतीत होना और हिमालय के निकटवर्ती प्रान्तों के निवासी आर्यों को न होना, अनुमान-गम्य नहीं। अतएव अनुमान कहता है कि मुसलमानों ने यह प्रथा अन्य शीतदेशीय लोगों से ही सीखी होगी।

अब पुराणों से प्राचीन माने गये स्मृति-ग्रन्थों को देखिए। मनुस्मृति के चतुर्थाध्याय में वर्ज्यान्न-प्रकरण है। उसमें लिखा है कि किन-किन जातियों का अन्न सेवन करना ठीक नहीं। इस अध्याय के २१४वें श्लोक में मनुजी लिखते हैं—"शैलूष-तुन्नवायान्नं कृतघ्नस्यान्नमेव च" इस श्लोक की टीका में कुल्लूक भट्ट ने "तुन्नवायः सौचिकः" लिखा है। अर्थात् सूची से उपजीविका करनेवाला सौचिक कहाता है। इससे यह स्पष्ट ही जान पड़ता है कि मनुस्मृति लिखी जाने के समय दर्जी का पेशा करनेवाले लोग भारतवर्ष में थे। यदि लोग सिले हुए कपड़े न पहनते तो दर्जियों का काम कैसे चलता? अर्थात् मनुस्मृति के समय में लोग सिले हुए कपड़े अवश्य पहनते थे।

श्रुति में मन्त्र और ब्राह्मण दो भाग हैं। मन्त्रों में स्तुति और ब्राह्मणों में मन्त्रविनियोग है। तैत्तिरीय-ब्राह्मण में केवल सूची का वर्णन ही नहीं है, सूइयों के तीन प्रकार भी बताये गये हैं। तृतीयाष्टक में नवमाध्याय के षष्ठानुवाक में लिखा है—

त्रय्यः सूच्यो भवन्ति। अयस्मय्यो रजतो हिरण्यः।

अर्थात्—सूइयाँ तीन प्रकार की होती हैं; लोहे की, चाँदी की और सोने की। चाँदी तथा सोने की सूइयाँ भी जिस समय काम में आती थीं उस समय सीने की कला कितनी उन्नत रही होगी, इसका विचार पाठक स्वयं कर सकते हैं। जैमिनीयोपनिषद्ब्राह्मण में एक ऋषि का वर्णन है। उसके शरीर पर शामूल अर्थात् ऊनी कुर्ता था। अर्थात् ब्राह्मण काल में सीने की कला का केवल अप्रत्यक्ष ही वर्णन नहीं, किन्तु सिले हुए कपड़े का नाम भी मिलता है।

अब ईसा के ३००० वर्ष पहले के ऋग्वेद-मन्त्रों में क्या प्रमाण मिलते हैं, यह भी देखना चाहिए। प्रथमाष्टक में द्वितीयाध्याय के चौंतीसवें अनुवाक की पाँचवीं ऋचा में लिखा है—

त्वमग्ने प्रयतदक्षिणं नरं वर्मेव स्यूतं परिपासि विश्वतः।

इसी प्रकार द्वितीयाष्टक के सप्तमाध्याय के पन्द्रहवें वर्ग की चौथी ऋचा में लिखा है—

सीव्यत्वपः सूच्याच्छिद्यमानया ददातु वीरं शतदायमुक्थम्।

इसके भाष्य में सायणाचार्य स्पष्ट लिखते हैं कि "यथा वस्त्रादिकं सूच्या स्यूतं चिरं तिष्ठति एवमिदं करोतु"—इसी प्रकार के और भी प्रमाण दिये जा सकते हैं।

पूर्वोक्त विवेचन से पाठकों का सन्देह दूर हो गया होगा। सिले हुए भिन्न-भिन्न वस्त्रों के कितने ही नाम ऋग्वेद में पाये जाते हैं। अब यह देखिए, ऊनी कुर्ते को शामूल कहते थे और रेशमी कुर्ते को तार्प्य। जो कपड़ा भीतर से पहना जाता था उसे नीवि और ऊपर से चोगा सा पहना जाता था उसे अधिवास, अत्क या द्रापि

कहते थे। कपड़े प्रायः रंगीन होते थे। रंगहीन श्वेत कपड़ों को पाण्डुव कहते थे। वायु से बचाव के लिए जो कपड़े पहने जाते थे वे वातपान नाम से प्रसिद्ध थे। इसके सिवा कई कपड़ों पर बेलबूटे निकाले जाते थे, जिनका नाम पेशस् था। इतने प्रकार के भिन्न-भिन्न कपड़े जिस समय प्रचलित थे, उस समय सीने की कला क्या भारतवर्ष में अज्ञात थी? इसका विचार पाठक स्वयं कर सकेंगे।

१९१७

❀ ❀ ❀

निसर्ग और सभ्यता

श्री हरिभाऊ उपाध्याय

निसर्ग अर्थात् प्रकृति और सभ्यता में प्रायः उतना ही विरोध देख पड़ता है जितना कि पूर्व और पश्चिम या अंधकार और प्रकाश में पाया जाता है।

प्रकृति (Nature) कहती है कि प्राणी जिस स्वरूप में उत्पन्न हुआ है उसी स्वरूप में रहकर अपनी उन्नति करे। मैंने जो शक्तियाँ, जो साधन जिस स्वरूप में उसे दिये हैं उसी स्वरूप में उनका उपयोग करके वह विकसित होता रहे। मनुष्य प्राणी है। अतएव उस पर भी यह नियम घटता है। मनुष्य नग्न और अकेला उत्पन्न होता है। अतएव उसे दिगम्बर और एकाकी रहना चाहिए। फूल, फल, पौधे, अनाज, जल, मिट्टी, पत्थर इत्यादि जिस स्वरूप में उसे प्राप्त हुए हैं उसी स्वरूप में उनका उपयोग करके वह जीवित रहे और अपनी उन्नति करे। उसके विकास के लिए सब आवश्यक साधन मैंने उसे दिये हैं। बनावटी साधनों और उपायों की उसे आवश्यकता नहीं। कृत्रिमता उसकी स्वाभाविक उन्नति की बाधक है। भूख के समय जो मन आवे खा ले, प्यास लगने पर जैसी रुचि हो पानी पी ले, निद्रा आने लगे तब सो जाय, इच्छानुसार सन्तानोत्पत्ति कर ले। कपड़े-लत्ते की उसे कोई जरूरत नहीं। यदि होती तो मैं उसे बने बनाये देती। सारांश यह कि मनुष्य को न स्वादिष्ट भोजन की जरूरत है न जाति या विवाह-बन्धन इत्यादि की जरूरत है। कृत्रिमता को उसे पास न फटकने देना चाहिए।

पर सभ्यता कहती है कि नहीं, तुम भूलती हो। और प्राणियों के लिए तो तुम्हारी यह बात ठीक है; पर मनुष्य के लिए नहीं। मनुष्य भी प्राणी है यह सच; परन्तु अन्य प्राणियों की अपेक्षा वह बड़ी भारी विशेषता रखता है। उसमें विवेक और बुद्धि है। इसी की बदौलत वह अन्य सभी प्राणियों से श्रेष्ठ समझा जाता है। इसके प्रधान काम दो हैं—(१) कार्य या वस्तु को यथावत् समझ लेना और (२) सर्वोत्तम प्रकार से कौशलपूर्वक उसका संचालन करना। विवेक बुद्धि की पहली शक्ति से वह पदार्थ का यथार्थ ज्ञान प्राप्त करता है और दूसरी से उस ज्ञान का सदुपयोग करता है। कृत्रिमता और सामाजिकता का आश्रय लिये बिना यह हो नहीं सकता।

किसी पदार्थ का ज्ञान प्राप्त करके उसका सदुपयोग करने को—उसका सर्वोत्तम परिणाम निकलने को कला कहते हैं। या यों कहें कि कला बुद्धि-उपयोगिता का परिणाम है। अतएव कला कृत्रिमता और सामाजिकता की आश्रित है। कृत्रिमता एवं समाज-शीलता और कला का आधार-आधेय सम्बन्ध है। तुम कहती हो कि कृत्रिमता की जरूरत मनुष्य को नहीं। पर मैं कहती हूँ कि कृत्रिमता के बिना उसकी बुद्धि निष्फल हो जाती है।

इससे मालूम हुआ कि कृत्रिमता का और मनुष्य-बुद्धि या मनुष्यता का गहरा सम्बन्ध है। क्योंकि बुद्धि ही मनुष्यता का एकमात्र चिह्न है। समाजशीलता और मनुष्यता का भी प्रगाढ़ सम्बन्ध है। कृत्रिमता और सामाजिकता भी परस्पर सम्बद्ध हैं। समाजशील हुए बिना मनुष्य की बुद्धि व्यापक नहीं हो सकती और कृत्रिमता के अवलम्बन बिना वह अपना जौहर प्रकट नहीं कर

सकती। जब तक बुद्धि व्यापक और मर्मज्ञ न होगी तब तक मनुष्य अपनी स्थिति का यथार्थ ज्ञान और भावी उन्नति की कल्पना नहीं कर सकता। या यों कहें कि समाजशील हुए बिना वह अपनी उन्नति नहीं कर सकता। समाजशीलता उसे उदार, नियमनिष्ठ, सदाचारशील, सहकारिता-प्रेमी बनावेगी। उदारता उसे अपने प्रेमियों और हित-चिन्तकों के छोटे बड़े दुर्गुणों, और दुर्व्यवहारों की उपेक्षा करने की शिक्षा देगी; नियमनिष्ठा एक दूसरे की स्वतंत्रता का अपहरण या बाधक होने से बचावेगी; सदाचार-शीलता उन्हें शान्ति का पाठ पढ़ावेगी और सहकारिता उन्नति की ओर अग्रसर करेगी। इन सब सद्‌गुणों का समष्टिरूप से जो परिणाम होगा वही सहानुभूति और प्रेम है। इस विवेचन से यह जान पड़ता है कि रुचि-वैचित्र्य, मतभेद, इत्यादि के रहते हुए भी मनुष्य अपनी बुद्धि के सदुपयोग द्वारा उच्च, चिर और प्रकृत प्रेम का आदर्श उपस्थित कर सकता है।

मनुष्य-समाज में ही रहकर मनुष्य अपनी उन्नति कर सकता है, अन्यथा नहीं। इसीलिए वह समाजशील कहाता है। समाजशील जन के लिए, समाज के नियमों और बन्धनों का पालन करना आवश्यक है। दो मनुष्य विशेष विशेष नियमों का पालन किये बिना एक साथ अधिक काल तक नहीं रह सकते। फिर समाज में रहने के लिए तो नियमों का पालन करना अनिवार्य है।

आपने प्रकृति और सभ्यता दोनों की दलीलें सुन लीं। प्रकृति तो कृत्रिमता की शत्रु है; कलाकौशल की उसके बिना गुजर नहीं। कला कौशल और सामाजिकता सभ्यता के प्रधान अंग हैं। इनके बिना सभ्यता कोई चीज ही नहीं। कलाकौशल और समाज-शीलता अप्राकृतिक—प्रकृति-विरुद्ध—है, अतएव सभ्यता भी सर्वांश में नहीं तो अल्पांश में प्रकृति-विरुद्ध अवश्य है। प्रकृति कहती है कि मनुष्य नंगा और अकेला रहे—उसे वस्त्र, घर, बरतन, गहने स्त्री आदि की आवश्यकता नहीं; जाति-पाँति का प्रयोजन नहीं। तरह तरह के स्वादिष्ट भोजनों की उसे आवश्यकता नहीं। अर्थात् मनुष्य पशु बन जाय—बुद्धि के रहते हुए भी पशुवत् आचरण करे। विपक्ष में सभ्यता कहती है कि नहीं; मनुष्य बुद्धि-प्रयोग-पूर्वक जीवन व्यतीत करे। वह समाजप्रिय है। समाज के बिना उसका काम नहीं चल सकता। जाति-पाँति, विवाह-बन्धन इत्यादि के नियमों का पालन उसे अवश्य करना पड़ेगा। प्रत्येक विषय में अपने बुद्धिबल का प्रयोग करके वह उन्नति प्राप्त करे। अर्थात् वह मनुष्य बनकर रहे। प्रकृति कहती है मनुष्य असभ्य रहकर अपनी उन्नति करे और सभ्यता कहती है कि सभ्य बनकर वह अपनी उन्नति करे।

अब यह प्रश्न है कि हम किसका अनुगमन करें? प्रकृति का या सभ्यता का? इसका उत्तर बहुत कठिन नहीं। उन्नति तो प्रकृति और सभ्यता दोनों को अभीष्ट है। मतभेद जो है वह मार्गों में है। ध्येय एक है; साधन भिन्न भिन्न हैं। अतएव आइए, हम दोनों के साधनों की जाँच करें कि इस बीसवीं सदी में संसार की वर्तमान अवस्था में—कौन से साधन हमारे लिए उपयुक्त हैं।

संसार में आज जितनी जातियाँ विद्यमान हैं उनका प्राचीनतम इतिहास देखिए। जो अब नहीं हैं उनकी भी आदिम अवस्था की जाँच कीजिए। आप इसी नतीजे पर पहुँचेंगे कि प्रायः सबके पूर्वज प्राकृतिक नियमों के कायल अधिक, सभ्यता के नियमों के पाबन्द कम थे। तब से आज तक उनकी वंशधर जातियों की दशाओं में जो परिवर्तन हुए उन पर ध्यान दीजिए। आप देखिएगा कि आगे की प्रायः सभी पीढ़ियाँ प्राकृतिक नियमों की अनुसारिणी कम और सभ्यता की अनुसारिणी अधिक हैं। इतिहासकारों के शब्दों में समस्त जातियों की गति का वर्णन समष्टि रूप से यों कर सकते हैं कि वे असभ्य से सभ्य होती आई हैं, अर्थात् सभ्यता का प्रचार दिन पर दिन बढ़ता गया है और अब भी बढ़ता जा रहा है। इस सभ्यता-वृद्धि की ही बदौलत कल की योरपीय जातियाँ प्रतिष्ठित समझी जाती हैं। आज सभ्य जातियों का वह आतंक—वह प्रभुत्व संसार पर छाया है कि जिसकी हद नहीं। जो जाति आज सभ्यता में जितनी बढ़ी चढ़ी है संसार में उसका उतना ही अधिक प्रभाव है। जातियों और देशों की योग्यता की माप प्रायः सभ्यता ही हो रही है। कृत्रिमता का चारों ओर साम्राज्य है। भोजन, वस्त्र, पात्र, आभूषण, सजावट इत्यादि सभी को कृत्रिम साधनों द्वारा सर्वोत्कृष्ट बनाने का विश्वव्यापार हो रहा है। ऐसे समय में भी कभी जर्मनी, कभी अमेरिका, कभी फ्रांस इत्यादि से प्रकृति-प्रणयियों की ऊँची आवाज कानों में भनक उठती है। अभी उस दिन हमने एक किताब पढ़ी "Return to Nature." लेखक महाशय डाक्टर हैं। जर्मनी के कूनेसाहब की तरह

ये भी रोगी थे। प्राकृतिक इलाज से प्राकृतिक नियमों का पालन करने से वे रोग-मुक्त हो गये । उसी इलाज की सविस्तर चर्चा उस पुस्तक में है। प्रकृति के अनुगमन की सलाह देनेवाले प्रायः सभी लोग डाक्टर-वैद्य हैं। वे आरोग्य-संरक्षण और आरोग्य-लाभ के ही लिए विशेष कर प्राकृतिक नियमों का पालन करने की राय देते हैं। पर केवल नीरोग रहने से ही मनुष्य की उन्नति हो सकती है—यह बात बुद्धि नहीं कबूल करती। उन्नति का प्रधान सम्बन्ध मन से है। मन या बुद्धि का विकास ही उन्नति का प्रधान साधन है। बुद्धि का विकास बिना शिक्षा के नहीं हो सकता। और शिक्षा के लिए समाज तथा कलाकौशल के आश्रय की आवश्यकता होती है। अर्थात् बिना सभ्यता का आश्रय ग्रहण किये मनुष्य अपनी उन्नति नहीं कर सकता। यदि यह कहें कि सभ्यता की वृद्धि ही उन्नति है तो अयथार्थ नहीं'

संसार इस समय सभ्यता की वृद्धि के लिए प्रयत्नशील है। कृत्रिमता का डंका चारों ओर पिट रहा है। इस दशा में प्राकृतिक नियमों का पालन करके सफलता प्राप्त करना हमें तो असम्भव ज्ञात होता है। माना कि प्रकृति की शरण में जाकर लोग नीरोग या स्वस्थ हो गये। तो इससे हुआ क्या? शिक्षा के द्वारा उन्हें जब तक सुसंस्कृत न किया जायगा तबतक उनकी उन्नति हो कैसे सकेगी? और यह भी सच है मनुष्य जितना ही स्वस्थ होगा उसकी बुद्धि भी उतनी ही अधिक प्रखर होगी। इससे उसकी उन्नति में विशेष सहायता मिलेगी। परन्तु रोग का सम्बन्ध केवल शरीर से ही नहीं, मन से भी है। मानसिक चिन्तायें भी मनुष्य के शरीर को रोगी बना सकती हैं। विपक्ष में मन की दृढ़ता से रोगी शरीर भी आरोग्य-लाभ कर सकता है। मानसिक शक्तियों की अपेक्षा शारीरिक शक्तियाँ हीन ही मानी जाती हैं। शरीर और मन हैं यद्यपि परस्पर सम्बद्ध और अन्योन्याश्रित; पर मन प्रधान है, शरीर नहीं। मानसिक शक्ति के अद्भुत चमत्कार हम प्रतिदिन देख रहे हैं। अतएव मन को संस्कृत करना ही उन्नति है। और यह बिना सभ्यता का आश्रय ग्रहण किये नहीं हो सकता।

इस विवेचन से यदि यह परिणाम भी निकाला जाय कि प्राकृतिक नियमों के पालन से प्रधानतः शरीर की उन्नति होती है और सभ्यता के अंशभूत समाज के नियमों का पाबन्द रहने से मुख्यतः मन की उन्नति है। अर्थात् प्रकृति को शरीर-प्रधान उन्नति अभीष्ट है और सभ्यता को मनःप्रधान उन्नति।

कलह समष्टि की उन्नति का विघातक है; शान्ति उसकी पोषक है। निसर्ग का उद्देश है जीवनार्थ कलह और समाज का अन्तिम साध्य है कलह-शान्ति। निसर्ग का साम्राज्य होने पर जिसकी लाठी उसकी भैंस का कानून काम में लाया जाने लगेगा। पशुताप्रधान शरीर-बल की दुहाइयाँ दी जाने लगेंगी। इससे कलह बढ़ेगा। कलह से उन्नति में रुकावटें आती हैं। सभ्यता का ग्रहण करने पर प्रत्येक सभ्य को समाज के नियमों के अनुसार चलना पड़ेगा। इससे समाज में शान्ति की वृद्धि होगी। शान्ति की वृद्धि से उन्नति की गति बढ़ जायेगी। अतएव निसर्ग-नियम की अपेक्षा सभ्यता के नियम अर्थात् नीति और सदाचार के नियमों का पालन करना ही श्रेयस्कर है। इसके साथ ही साथ इन प्राकृतिक नियमों का भी अवलम्बन करते रहना चाहिए जो समाज की शान्ति को भंग न करते हों। अर्थात् सभ्यता की वृद्धि में सहायक, कम से कम अबाधक, प्राकृतिक नियमों का पालन करना हमें उचित है। प्रकृति ने मनुष्य को बुद्धि प्रदान करके स्वयं उसे सभ्यता का प्रेमी बना दिया है। सभ्यता यदि संसार में रहे तो उसका सलोनापन नष्ट हो जाय। प्रकृति संसार की जननी है और सभ्यता उसका भूषण है। जबतक सभ्यता संसार में रहेगी प्रकृति से उसका झगड़ा होता ही रहेगा।

१९१८

❀ ❀ ❀

पूर्वी ओर पश्चिमी सभ्यताओं में विभिन्नता, तथा स्वदेशी साहित्य का महत्त्व

पं० माधवराव सप्रे, बी० ए०

किसी राष्ट्र अथवा देश की सभ्यता का ज्ञान होने के लिए उसके साहित्य, आचार-विचार, शिक्षा-पद्धति, धर्मतत्त्व, गृहजीवन, नेता, समाज, आदर्श अकांक्षा आदि बातों का जान लेना परम आवश्यक है। जब तक इन बातों का सम्यक् ज्ञान न हो तब तक उस राष्ट्र अथवा देश की सभ्यता का कुछ विचार अथवा उस पर कुछ निश्चित मत नहीं प्रकट किया जा सकता। भारतीय और पश्चिमी सभ्यताओं का तुलनात्मक विचार करने से यह बात भली-भाँति विदित हो सकती है कि इन सभ्यताओं की जड़ किन तत्त्वों के आधार पर स्थित है और इनमें कितनी दृढ़ता तथा दीर्घ-जीवन-शक्ति है। इतना ज्ञान हो जाने पर यह जानने में कोई कठिनाई न होगी कि पश्चिमी सभ्यता कैसी मोहक, नीरस और नाशकारिणी है; * तथा हमारी सभ्यता कितनी उपयोगिनी और संसार का समावेश अपने में करके उसकी कितनी सुख-शान्ति बढ़ानेवाली है। शोक है, अधिकांश अँगरेजी शिक्षा-प्राप्त हमारे बन्धुगण उस मायाविनी सभ्यता का पूरा-पूरा अनुकरण करने में ही अपना सौभाग्य समझते हैं और इसी नशे में रात-दिन मस्त होकर अपनी विदीर्णहृदया भारतमाता के दुःखित हृदय पर कुठाराघात किया करते हैं! राष्ट्रीयता के संगठन में इस अनुकरण-प्रेम के कारण जो असहनीय हानि हो रही है उसका उदाहरण आज का हमारा 'तरुण भारतवर्ष' ही है। विषयान्तर न करके यहाँ पर स्पष्ट शब्दों में कह देना उचित होगा कि भारतवर्ष के अँगरेजी शिक्षा पाये हुए लोग उस दूषित सभ्यता की नकल करना शीघ्र ही छोड़ दें और अपनी प्राचीन सभ्यता के महत्त्व को अच्छी तरह से समझ लें। सरस्वती के पाठक पी० जे० मेहता, एम० डी०, बारिस्टर, के नाम से तथा देशी भाषाओं के महत्त्व के विषय में उनके विचारों से परिचित हैं। हाल में उन्होंने अपनी स्वराज्य-माला की दूसरी संख्या प्रकाशित की है। नाम वही है जो पहली संख्या का था—"Vernaculars as Media of Instruction in Indian Schools and Colleges." अर्थात् "हिन्दुस्तान के स्कूलों और कालेजों में देशी भाषाओं को शिक्षा का माध्यम बनाना।" इसमें दोनों सभ्यताओं का यथार्थ चित्र खींचा गया है। हम यह लेख इसी पुस्तिका के आधार पर लिख रहे हैं। भारत की भलाई चाहनेवाले अँगरेजी भाषा के ज्ञाता समस्त सज्जनों से हमारी प्रार्थना है कि वे इस पुस्तिका को एक बार अवश्य पढ़ें।

पश्चिम और पूर्व की प्रायः सभी बातों में भिन्नता पाई जाती है। पहले साहित्य ही को लीजिए। सभ्यता और समाज पर साहित्य का बड़ा भारी प्रभाव पड़ता है। किसी राष्ट्र का सम्बन्ध उसके साहित्य से इतना घनिष्ठ रहता है जितना कि वस्तु-विशेष और उसकी परछाईं का रहता है। यदि आप यह जानना चाहते हैं कि भाफ़ और बिजली की शक्ति के वर्तमान जमाने के पहले भारतीय सभ्यता कैसी थी तो आपको भारतवर्ष के साहित्य-सागर में खूब गहरा गोता लगाना पड़ेगा और उसके भग्नावशेष मन्दिरों, ऐतिहासिक और धार्मिक स्थानों, और चित्रकारी तथा खुदाई के अनन्त नमूनों को देखना पड़ेगा। भारत की प्राचीन सभ्यता आपको इन्हीं वस्तुओं में छिपी हुई मिलेगी। इनको देखने से सहज ही में मालूम होजायगा कि भारतवर्ष जो कुछ करता है वह केवल ईश्वर और धर्म के नाम पर। धर्म ही हिन्दू-जाति के दैनिक जीवन का आधार है। यह एक अटल सिद्धान्त है कि मन को जैसा भोजन मिलता है उसी के अंश को लेकर वह बढ़ता है। जिस समाज में

*इँगलैण्ड में जो अध्यात्म-रहित शिक्षा प्रचलित है उसके विषय में प्रोफेसर पेरी का कथन है—"Every clever man, who has gone to a public school and to Oxford and Cambridge, worships the system which has taken from him his spiritual birthright, his individuality, his common-sense, his power to think for himself, yes and, I may say, his belief in himself. He has become too much like a sheep, ready to follow the bell wether; *he is a man who has greatly los this soul.*" (Speech delivered at the Educational Section of the British Association in 1915).

सदा ईश्वर और धर्म की चर्चा होती है, और जिस समाज का साहित्य इन्हीं बातों से भरा पड़ा है, वह समाज स्वाभाविक ही धर्मभीरु और ईश्वर-निष्ठ हो जाता है। भारतवर्ष और हिन्दू जाति का यही हाल है। हिन्दू के दैनिक जीवन के कार्यक्रम में बड़ी कठिनाई से ऐसा एक-आध घण्टा व्यतीत होता होगा जब धर्म और नीति की बातें न होती हों। हिन्दुओं की कुटुम्ब-प्रणाली और गृह-जीवन भी सदा इन्हीं बातों को पुष्ट किया करता है और घर की इस व्यावहारिक शिक्षा का असर उनके जीवन पर बड़ा भारी होता है। परिणाम यह होता है कि भारतवासी बिना प्रयास के ही दयालु, शान्तिप्रिय, उदार और सत्य-प्रेमी हो जाते हैं।

पश्चिमी देशों में यह बात नहीं पाई जाती। वहाँ के कुटुम्बों का सम्बन्ध आवश्यकता और इच्छा के अनुसार जोड़ अथवा तोड़ लिया जाता है। आदर्श के बदलने में कुछ देर नहीं लगती। शिक्षा-सम्बन्धिनी संस्थाओं का भी विचित्र हाल रहता है। इंडियन सिविल सर्विस के मेम्बर मिस्टर एच० फील्डिंग हाल साहब लिखते हैं कि वहाँ "पाठशाला के लड़कों को सच बोलना नहीं सिखलाया जाता; सत्य की इच्छा ही उनमें उत्पन्न नहीं की जाती। पहले से ही वे इस बात की शिक्षा पाते हैं कि किसी सत्य बात को उसके सिद्ध स्वरूप में जान लेने की कोई भी आवश्यकता नहीं है। सिखलाया केवल यह जाता है कि मौका पड़ने पर वह बात अपने पक्ष के समर्थन में किसी भी तरह कैसे काम में लाई जा सकती है*।" भारतवर्ष में बच्चों को जो सबसे पहली बात सिखाई जाती है वह है "सत्यान्नास्ति परो धर्मः।" "सत्यमेव जयते" का पाठ पढ़ा हुआ बालक आगे चलकर झूठ से बहुत डरता है; परन्तु जो बचपन ही से असत्यता और चालाकी की शिक्षा पाता है वह भविष्य में सत्य-प्रेमी कभी नहीं हो सकता। हमारे देश में किसी मनुष्य की सभ्यता के विषय में इस प्रकार जाँच की जाती है :—

> यथा चतुर्भिः कनकं परीक्ष्यते
> निघर्षणच्छेदनतापताडनैः।
> तथा चतुर्भिः पुरुषः परीक्ष्यते
> श्रुतेन शीलेन गुणेन कर्मणा।।

अर्थात् जिस तरह सुवर्ण की परीक्षा उसे कसौटी पर रगड़ने से, काटने से, तपाने से और पीटने से की जाती है, उसी तरह पुरुष की भी परीक्षा उसके अध्ययन, आचरण, उत्तम कर्म और गुणों के द्वारा की जाती है।

भारतवर्ष और यूरोप आदि पश्चिमी देशों के आदर्शों में भी बड़ी भिन्नता है। भारतवर्ष का वायुमण्डल सदैव आध्यात्मिकता से तर रहा करता है। भारतीय समाजों में नीति, धर्म और कर्त्तव्य की चर्चा सदैव हुआ करती है। योरोप आदि पश्चिमी देश कोरे भौतिकवादी हैं। वहाँ के समाजों में सदा सम्पत्ति, फौज, लड़ाई, क्रिकेट, फुटबाल, खान-पान, मनुष्य के अधिकार आदि बातों की ही चर्चा रहती है। भारतीय राष्ट्र का प्राण यदि धर्म कहा जा सकता है तो पश्चिमी राष्ट्रों का आधार एकमात्र स्वार्थ कहने में कोई आपत्ति नहीं हो सकती। पहले में क्षमा, दया, न्याय और परोपकार है; दूसरे में अधिकार और स्वत्व की डंडेबाजी है। पहला स्वर्गीय है, दूसरा लौकिक। आधुनिक सभ्यता ने समस्त योरोप को एक बृहत् सैनिक छावनी का रूप दे रक्खा है। कोई छोटा या बड़ा राष्ट्र अपने को सुरक्षित नहीं समझता। न जाने कब एक पड़ोसी दूसरे का राज्य छीन ले। इसी लिए वहाँ के प्रत्येक नागरिक को सैनिक बनना पड़ता है। ऐसा एक भी दिन नहीं बीतता जो दिग्विजय, युद्ध और मारकाट की चर्चा से आरम्भ न किया जाता हो। भौतिक प्रभुता के लिए खून की प्यासी रण-देवी ही वहाँ की उपास्य देवता है। क्या इस प्रकार सोते-जागते खून की नदियाँ बहाने का विचार—फिर वह सभ्यता के नाम पर हों, या धर्म के नाम पर—दूसरों को कष्ट पहुँचाये बिना कार्य्य में परिणत हो सकता है? क्या किसी निन्दनीय स्वार्थ से सनी हुई महत्त्वाकांक्षा के बिना कोई मनुष्य अथवा राष्ट्र अपने पड़ोसी का गला घोटने को कभी तैयार हो सकता है? कभी नहीं। हम लोग जिस आधुनिक सभ्यता का, आँखें

---

* C.F. :—"No English school-boy is ever taught to speak the truth, for the very simple reason that he is never taught to desire the truth. From the very first he is taught to be totally careless as to whether a fact is a fact; he is taught to care only whether the fact can be used on his side, when he is engaged in playing the game."

—*Passing of the Empire*

बन्द करके, अनुकरण कर रहे हैं उसका यथार्थ स्वरूप यूरोप के तत्त्वज्ञों की दृष्टि में ऐसा ही है।

यह न समझना चाहिए कि भारतवर्ष में कभी संग्राम नहीं होते थे। यहाँ भी संग्राम हुआ करते थे; परन्तु यहाँ के प्रत्येक किसान को अपने कृषि-यन्त्रों को युद्ध के शस्त्रास्त्रों में परिणत करने की कोई आवश्यकता नहीं पड़ी, और न प्रत्येक मनुष्य ही युद्धभूमि में घसीटा गया। एक तरफ तलवार चला करती थी और दूसरी तरफ झोपड़ी में बैठकर जुलाहा सूत कातता था। कृषकों के काम में शत्रुओं के द्वारा कोई बाधा नहीं डाली जाती थी। चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था के अनुसार युद्ध का काम समाज के एक विशिष्ट भाग को सौंप दिया जाता था और कृषक तथा अन्य व्यवसायी लोग युद्ध-कार्य से सदा मुक्त कर दिये जाते थे। अपनी इच्छा के विरुद्ध कोई रणक्षेत्र में नहीं घसीटा जाता था। चन्द्रगुप्त मौर्य के समय का वर्णन करते हुए मेगास्थनीज ने ऐसा ही लिखा है। सारांश यह है कि आर्यों की प्राचीन सभ्यता के उत्तर-काल में, भीषण संग्रामों के समय भी, समाज में जितनी सुख-शान्ति रहा करती थी उतनी योरोप आदि पश्चिमी देशों में कदाचित् शान्तिमय समय में भी नहीं रहती है।

हम लोग यह भी सुना करते हैं कि पश्चिमी देशों में प्रजातन्त्र शासन-प्रणाली है और इसे सुनकर हमारे मुँह में पानी आ जाता है। हम बार-बार वहाँ की सुसंगठित जातीयता की प्रशंसा किया करते हैं और यह समझते हैं कि वहाँ छोटा बड़ा जो कार्य होता है वह फी सदी निन्यानबे आदमियों की सम्मति से ही होता है। परन्तु हमारी यह समझ उतनी ही सच है जितनी कि सूर्य का पश्चिम में उदय होना। अधिक क्या कहें, किसी अनर्थकारी युद्ध की घोषणा तक वहाँ के कुछ चुने हुए दस-बीस अथवा कभी-कभी तो एक ही दो मनुष्यों की इच्छा से हो जाती है। इस बात पर एकाएक विश्वास नहीं होता; पर बात ऐसी ही है। हम भारतवासियों को पश्चिमी देशों की सभ्यता के अभिनय के भीतरी परदों का हाल सदा मालूम नहीं होता। उसका बाहरी भाग राष्ट्रीयता, स्वतन्त्रता, समानता, उपयोगिता आदि मनोमुग्धकारी नामों से सुवर्णांकित होता है अवश्य; परन्तु भीतरी दृश्य कुछ निराला ही है। वहाँ भौतिक वासनाओं और स्वार्थ-बुद्धि की अमर्यादित तीव्रता ने आधुनिक सभ्यता को मृगजल की सृष्टि के समान भ्रामक तथा असम्भव सिद्ध करके उसकी मृत्यु की घण्टी बजा दी है।

अब पश्चिमी देशों की धार्मिकता और दयालुता का भी थोड़ा सा नमूना देखिए। बाइबिल में एक वाक्य है—"हिंसा मत करो।" परन्तु इसकी पूरी-पूरी अवहेलना की जाती है। धर्म के नेताओं और महन्तों को भी रुधिर बहाने के काम में शामिल होना पड़ता है। वहाँ का कानून प्रत्येक नागरिक को युद्ध में शामिल होने के लिए बाध्य करता है। यदि कोई शामिल न हो तो फिर वहाँ की सरकार उसकी जान और माल की रक्षा नहीं करना चाहती। इसी प्रकार वहाँ के दयालुता-प्रचारक (Humanitarian) नेताओं को भी इस बात की स्वतन्त्रता नहीं है कि वे अपने पड़ोसी भाइयों का रुधिर बहाने के सम्बन्ध में कुछ उचित, परन्तु विरुद्ध सम्मति दे सकें। शान्ति के समय तो वे लोग खूब शान्ति-पाठ पढ़ाते हैं, परन्तु युद्ध के समय उसमें उनका हिस्सा ठीक उतना ही रहता है जितना किसी बड़े सैनिक का रहता हो। फिर इस बात को कोई पूछना नहीं चाहता कि इस युद्ध से आप सहमत हैं अथवा नहीं, किंवा मनुष्य-संहार का काम अच्छा है अथवा बुरा; क्योंकि ऐसी बातें करना फौजी कानून के अनुसार मना है। तात्पर्य यह कि चाहे धर्म हो चाहे परोपकार, प्रत्येक शक्ति को यूरोप की भौतिक सभ्यता-रूपी भयानक देवी की आराधना और उपासना करने के लिए पाशविक क्रिया में भी सदा सहायक होना पड़ता है।

सन् १८९५ ईसवी में चीन को पराजित करके जापान ने इसी सभ्यता का अनुकरण किया है। बीस बाईस वर्ष के इस थोड़े से समय में जापान ऐसा दीख रहा है कि मानो वह भी पश्चिमी देशों में से एक बड़ा पुराना देश हो। उसकी पुरानी चीनी सभ्यता के स्थान में अब पश्चिमीपन विराजमान है। इसका फल यह हुआ है कि जापान के सामने आज वे सब विकट और भयंकर प्रश्न खड़े हो गए हैं जो किसी समय योरोप में हुए थे और जो अब तक हल नहीं हो पाये हैं। व्यापारिक पूँजी और प्रतिद्वंद्विता, फौजी खर्च, मजदूरी का झगड़ा, राष्ट्रीय ऋण, समाज की कभी न सुलझनेवाली उलझनें, स्वार्थपूर्ण और नित नई महत्त्वाकांक्षायें आदि ऐसी अनेक बातें हैं जो शासकों और नेताओं को सदा भूलभुलैया में डालती रहती हैं। ये सब कठिनाइयाँ पुरानी सभ्यता का त्याग करने के ही कारण हुई

हैं। इससे फी सदी ९० मनुष्यों की जो हानि हो रही है उसका विस्तृत और हृदयग्राही वर्णन कई विद्वान् तथा सहृदय जापानी नेताओं ने किया है। अपने देश-भाइयों को सचेत करने के लिए, योरोपीय सभ्यता का वर्णन करते हुए, जापान के एक विद्वान मिस्टर यूचीमुरा, ने एक स्थान पर लिखा है—

"आखिर पश्चिमी सभ्यता है क्या वस्तु ? लोग कहते हैं कि वह ईसामसीह के अनुयायियों की सभ्यता है। क्या यह बात सच है ? क्या यह सभ्यता सचमुच उसी की आत्मा के आधार पर रची गई है जो सूली पर चढ़ाया गया था ? कभी नहीं। यह तो वही सभ्यता है जो उस महात्मा को सूली पर चढ़ानेवालों के आधार पर—शैतान या राक्षस के आधार पर—संगठित की गई है।"

"युद्ध—बस, जहाँ देखो वहाँ युद्ध—केवल यही एक आवाज वहाँ (यूरोप में) सुन पड़ती है। यह कहना कि उनकी सभ्यता शान्तितत्त्वों के आधार पर है, ठीक नहीं है। आज योरोप में जो आग जल रही है वही इस बात का प्रमाण है। और, यह प्रमाण नरक की आग से आसमान पर लिखा गया है, जो पुकार पुकारकर यह बतला रहा है कि उनकी सभ्यता नकली है—ऊपर से तो उसका स्वरूप मोहक है, परन्तु भीतर केवल हलाहल विष भरा है।" *

जापानियों की बातें छोड़ दीजिए। स्वयं यूरोप के विचारशील विद्वानों का भी यही मत है कि आधुनिक सभ्यता में दीर्घ-जीवनशक्ति नहीं है और उसके पतन होने का समय आ गया है। स्थानाभाव से हम उन सब लोगों की सम्मतियाँ यहाँ उद्धृत नहीं कर सकते। सिर्फ अध्यापक हक्सले की राय सुनिए। आप भौतिक विज्ञान-शास्त्र के धुरन्धर ज्ञाता थे। इनके अनेक ग्रन्थों का पारायण करने का सौभाग्य हमारी पाठशालाओं और कालेजों के विद्यार्थियों को हो चुका है। ऐसे विद्वान् महाशय की सम्मति पश्चिमी सभ्यता के प्रेमी हिन्दुस्तानियों के लिए अत्यन्त महत्त्व की है—

"श्रेष्ठ से श्रेष्ठ आधुनिक सभ्यता के अनुयायी इस मानव-समूह में भी मुझे किसी उत्तम आदर्श अथवा दीर्घ-जीवनशक्ति का अस्तित्व नहीं दिखाई पड़ता। अधिकांश मानव-समाज की जो दशा आज है उसमें यदि कुछ अच्छा सुधार होने की आशा न हो; यदि ज्ञान-शक्ति के उत्तरोत्तर बढ़ने से, विज्ञान के द्वारा, प्रकृति पर अपनी सत्ता को दिनोदिन अधिकाधिक बढ़ाते रहने से, और प्रकृति पर विजय करके इस सत्ता के द्वारा अपार सम्पत्ति के स्वामी बन बैठने से भी यदि हमारी तृष्णाओं की अधिकता और तीव्रता में कुछ भेद और न्यूनता नहीं आ सकती; और यदि यह सब प्रयत्न आपत्तिग्रस्त जनता की नैतिक तथा शारीरिक हीनता को केवल बढ़ाने में ही सहायक होता है, तो मुझे यह आशा करने में कोई शंका न करनी चाहिए कि भविष्य में ईश्वर किसी ऐसी दृढ़ शक्ति अथवा विभूति को भेजेगा, जो वर्तमान शोचनीय अवस्था का पूर्णतया परिवर्तन या नाश करके संसार का कल्याण कर सके।"

इसमें सन्देह नहीं कि भारतवर्ष का बाह्य भौतिक शरीर युद्ध में कई बार जीता जा चुका है परन्तु उसकी अन्तरात्मा अभी तक अजेय रही है। और, जब कि अन्तरात्मा में भ्रष्टता नहीं आई है, तब लगातार शताब्दियों तक की शारीरिक पराजय अनुभव करने से किसी राष्ट्र का बाल बाँका नहीं हो सकता। हिन्दू राष्ट्र ने अब तक अपना अस्तित्व कायम रखा है सही; परन्तु उसे भविष्य में किसी तरह की क्षणिक सुखदायी भौतिक सत्ता के माया-जाल में न फँसना चाहिए। इसके लिए केवल यही एक उपाय है कि हमारी नई पीढ़ी के तरुण विद्यार्थियों को भारतीय साहित्य का पूरा-पूरा परिचय कराया जाय, उन्हें इस साहित्य का राष्ट्रीय महत्त्व भली भाँति समझा दिया जाय और

---

* C.F. :—"What is the Western Civilisation after all? They say it is the Christian Civilisation. But, is it? Is it a civilisation based upon the Crucified one, Certainly it is not. It is a civilisation based upon the Crucifying one, the Devil, a murderer from the beginning."

"War, war—war upon the slightest pretext—that is their cry and unborn propensity. To say that their civilisation is based upon the gospel of peace is the greatest falsehood. The present conflagration of Europe is the veriest evidence, written with hell-fire upon the face of the sky, that theirs is a sham civilisation, beautiful upon the surface, but within, dead Vacuity."

—*Japanese Journal, the Yorodzu*

वह उनके विद्याभ्यास का एक मुख्य तथा आवश्यक अंग बना दिया जाय। परन्तु यह हेतु तब तक सिद्ध नहीं हो सकेगा, जब तक हमारी शिक्षा का माध्यम हमारी मातृ-भाषा न हो। सारांश, भारतीय राष्ट्र का भविष्य केवल दो बातों पर अवलम्बित है—एक तो भारतवासी अपने राष्ट्रीय साहित्य का सम्यक् ज्ञान प्राप्त करें; और दूसरी बात यह है कि सभी शिक्षालयों तथा विद्यालयों में शिक्षा मातृभाषा के द्वारा दी जाय।

१९१८

❀ ❀ ❀

"गोस्वामी तुलसीदास का आत्मचरित"

साहित्याचार्य शालग्राम शास्त्री

गत मार्च मास की सरस्वती में "मिश्र" नामक किन्हीं महाशय ने कवित्त-रामायण के कुछ पद्यों के आधार पर यह दिखाया है कि गोस्वामी तुलसीदासजी किसी नीच अन्त्यज जाति में उत्पन्न हुए थे और वे "किसी ऐसे घोर पापकर्म की सन्तान थे जिसे लिखने में वे स्वयं भी समर्थ न हुए"—अर्थात् जारज थे। इनमें से पहली बात के प्रमाण में गुसाईंजी के आत्मावमान-सूचक अनेक पद्यांश दिये गये हैं जिनमें उन्होंने अपने लिए "पतित" "अपावन" "नीच" "निरादरभाजन" आदि लिखा है और दूसरी (जारजत्व) के प्रमाण में "मातुपिता जग जाय-तज्यो" और "जायो कुल मंगन बधावनो बजायो सुनि भयो परिताप पाप जननी जनक को" इन पद्यांशों का विशेष उल्लेख है। इस लेख के प्रतिवाद में गत जुलाई १९१८ की संख्या में दो लेख छप भी चुके हैं। जिनमें श्रीयुत बालकरामजी का लेख विशेष विचारपूर्ण है। आपने गुसाईंजी को ब्राह्मण सिद्ध किया है और "दरिद्रतावश पालन-पोषण में असमर्थ होने के कारण" माता-पिता द्वारा उनका परित्यक्त होना बताया है। आज हमें उक्त दोनों सज्जनों की सेवा में विनयपूर्वक कुछ निवेदन करना है।

सबसे पहले अभ्युपगम सिद्धान्त के अनुसार हम आक्षेपकर्ता महाशय की दोनों बातें मान लेते हैं—हम यह मान लेते हैं कि गुसाईंजी किसी ऐसी अस्पृश्य जाति में उत्पन्न हुए थे जिसकी छाया का छूना भी बुरा समझा जाता था और यह भी स्वीकार किये लेते हैं कि वे जारज थे। एवम् मिश्रजी की जिस पर बड़ी आस्था है वही पाठ (जायोकुल-मंगन बधावो न बजायो सुनि) भी हमें स्वीकार है (वस्तुतः यह अपपाठ है) और उनके इस कथन से भी हम सहमत हैं कि—"तुलसीदासजी के माता-पिता को पाप का परिताप ऐसा हुआ कि बधावा तक न बजाया और नवजात पुत्र को छोड़ दिया कि पुत्रोत्पत्ति की खबर भी किसी को न हो"—परन्तु प्रश्न यह है कि यदि उक्त सब बातें ठीक हैं तो तुलसीदास जी को—जो पैदा होते ही इस तरह छोड़ दिये गए थे कि उनके जन्म की किसी को खबर भी न हो—यह कैसे मालूम हुआ कि हम मंगन कुल के हैं? हमारे जन्म पर माता-पिता ने बधावा नहीं बजवाया, या बधावा बजता सुनकर उन्हें पाप का परिताप हुआ और उन्होंने हमें पैदा होते ही छोड़ दिया? उन्होंने यह कैसे जाना कि हमारी माता का नाम "हुलसी" है, और जिसका उन्होंने मुँह तक नहीं देखा था, उस पापिनी माता के साथ उन्हें हित कैसे हुआ?

उन्होंने यह क्यों लिखा कि "तुलसिदास हिय हित हुलसी-सी।" इतना ही नहीं इस प्रच्छन्न पापिनी का नाम संसार भर में विख्यात कैसे हो गया? अब्दुर्रहीम खानखाना ने इसी पापिनी का नाम लेकर तुलसीदासजी को प्रसन्न करने के लिए समस्यापूर्ति क्यों की? "गर्भ लिये हुलसी फिरैं तुलसी सो सुत होय।" इस रहिमन के दोहे में ऐसी दुश्चरित्रा का उल्लेख क्यों किया गया? जिसे पुत्रोत्पत्ति पर इतना पाप का परिताप हो कि शिशु का प्रच्छन्न रूप से परित्याग करे, क्या वह उसी पाप-गर्भ को लिए "हुलसी" (आनन्द मनाती) फिरेगी?

मिश्र महाशय ने "जायो कुल मंगन बधावनो बजायो सुनि भयो परिताप पाप जननी जनक को" इसका अर्थ

किया है कि "माता-पिता जो मंगन कुल के थे, उन्हें बधावा बजता सुन अर्थात् पुत्रोत्पत्ति की खबर पाकर पाप का परिताप हुआ और उन्होंने बालक को जन्मते ही छोड़ दिया" अब प्रश्न यह है कि क्या माता और पिता दोनों ही ने कोई पाप किया था, जिसका परिताप दोनों को हुआ? जारज पुत्र होने से माता को अपने पिछले पापों पर पश्चात्ताप होना स्वभावसिद्ध है। परन्तु पिता को किस बात का पश्चात्ताप हुआ? उन्हें अपनी पत्नी की दुश्चरित्रता पर क्रोध होना चाहिए था या पश्चात्ताप? फिर यदि स्त्री दुष्टा थी तो उसी का परित्याग करना चाहिए था। निरपराध निरीह नवजात शिशु का त्याग दोनों (माता-पिता) ने क्यों किया? क्या इसी से दोनों की शत्रुता थी, इसके अतिरिक्त वह कौन-सा "पापकर्म" था जिसका परिताप "बधावा बजता" सुनकर हुआ? क्या बधावा बजने से पहले इस गर्भ की खबर उन्हें थी ही नहीं? यदि नहीं तो बधावा क्यों बजवाया? यदि थी तो भी पापकर्म की सन्तान के लिए—जिसे छिपाकर छोड़ना—अभीष्ट है—बधावा कैसा?

यह सम्भव है कि पिता को बधावा बजता सुनकर पुत्रोत्पत्ति की खबर हुई हो, परन्तु क्या बधावा सुनने से पहले माता को भी खबर नहीं थी कि मेरे पुत्र हुआ है? यदि थी तो आपका यह अर्थ (उक्त पद्य का) करना कि "बधावा बजता सुनकर अर्थात् पुत्रोत्पत्ति की खबर पाकर माता-पिता को पाप का परिताप हुआ" कैसे संगत हो सकता है? श्रीयुत बालकरामजी की यह बात बहुत ठीक है कि "परिताप पाप" इस शब्द से पाप का परिताप, यह अर्थ नहीं निकल सकता—यह नियम विरुद्ध है—इस अर्थ में समास अनुपपन्न है।

उक्त पद्य के उक्त अर्थ से आपने (मिश्रजी ने) दो बातें निकाली हैं—एक तो यह कि गुसाईंजी किसी नीच मंगन (मँगता-भिखारी) जाति के थे—दूसरे पापकर्म की संतान होने के कारण वे उत्पन्न होते ही छोड़ दिए गए थे। ये दोनों बातें विप्रतिषिद्ध हैं—दोनों सत्य नहीं हो सकतीं। यदि इन्हें नीच जाति का माना जाय तो परित्याग नहीं बनता। जिस नीच मंगन जाति की ओर आपका इशारा है उसकी स्त्रियाँ सती-साध्वी और पातिव्रत्यनिरत नहीं होतीं—उनका एक पति को छोड़कर दूसरे के यहाँ जाना और पहले पति की सन्तान का दूसरे पति के यहाँ पालन-पोषण करना साधारण बात है। उनमें इतनी चरित्रभीरुता नहीं होती जो दोनों पति-पत्नी मिलकर जारज पुत्र को छिपाकर छोड़ने जायँ। और यदि यह मान लें कि "पापकर्म" की सन्तान होने के कारण परित्यक्त हुए थे तो उनका नीच जाति में जन्म होना नहीं सिद्ध होता। यह प्रथा उन्हीं द्विजातियों में है जिनमें पुनर्विवाह या कराबे का रवाज नहीं है।

हमारी सम्मति में उक्त पद्य का अन्वय समझने में भूल हुई है—उसी से ये सब उपद्रव उठ खड़े हुए हैं। वस्तुतः "पाप" शब्द का सम्बन्ध न "परिताप" के साथ है न "जननी-जनक" के साथ। उसका सीधा सम्बन्ध "सुनि" क्रिया के साथ है। छन्द के अनुरोध से "पाप" शब्द "परिताप" के पीछे पढ़ा गया है। यही व्यतिक्रम भ्रम का कारण हुआ है। पद्य के प्रथम चरण का अन्वय तीन वाक्यों में करना चाहिए, दो में नहीं। यथा—१—"मंगन कुल जायो" "बधावनो बजायो" "पाप सुनि जननीजनक को परिताप भयो"। १. मंगन कुल में जन्म हुआ और २. माता-पिता आदि ने बधावना बजवाया—यहाँ तक खैर रही, अब यथा-क्रम घड़ी मुहूर्त पूंछने की बारी आई और ज्योतिषीजी के मुखारविन्द या मुखकुहर से "पाप" का ऐलान सुनकर लोगों के कलेजे दहल गये। माता और पिता दोनों को अत्यन्त सन्ताप (परितः—ताप) हुआ और इसके बाद "मातु-पिता जग जाय तज्यो" या "जननि जनक जनमि तज्यो" का नम्बर आया। यही ऐसा "पाप" था जिसकी खबर ग्रहगोचर का फल सुनने के पहले न माता को थी न पिता को। "पाप" शब्द का अर्थ ऐसे अवसर पर क्या होता है, यह बात संस्कृत-काव्यों के जाननेवालों से छिपी नहीं है। जिन्होंने संस्कृत के नाटकों में अनेक जगह "शान्तंपापम्" "प्रतिहतममंगलम्" पढ़ा है वे जानते हैं कि "पाप" शब्द अनिष्ट और अमंगल का वाचक है। प्रकृत में भी दैवज्ञ (ज्योतिषी जी) ने अनिष्ट और अमंगलकारी (पितृघातक या सर्वस्व-नाशक) दैव की सूचना दी थी—इस पद्य का उत्तरार्ध पढ़ने से यह बात और स्पष्ट हो जाती है। सम्पूर्ण पद्य इस प्रकार है—

"जायो कुल मंगन बधावनो बजायो।
सुनि भयो परिताप पाप जननी जनक को॥
बारे ते ललात बिललात द्वार द्वार दीन।
जानत हौं चारफल चारिहि चनक को॥

तुलसी सो साहब समर्थ को सुसेवकहि।
सुनत सिहाय सोच बिधिहूँ गनक को।।
नाम राम रावरो सयानो किधौं बावरो।
जो करत गिरी ते गरू तृन ते तनक को।।

यह बात सर्वसम्मत है कि गो० तुलसीदासजी परम भक्त थे—राम नाम के अनन्य उपासक थे—इस पद्य में भी उन्होंने राम-नाम की महिमा अनोखे ढंग से दिखाई है—यहाँ पूर्वार्ध में गुसाईंजी ने अपनी प्रारब्धहीनता का विचित्र चित्र खूब खींचा है। तीसरे चरण में राम-नाम की महिमा से जो महत्त्व उन्हें प्राप्त हुआ था उसकी चर्चा की है। "सो"=वही अति दीन—प्रारब्धहीन "तुलसी' "समर्थ" "साहब" (स्वामी=राम) का "सुसेवक" हुआ—इसे सुनकर सब तो "सिहाने"=प्रसन्न हुए—परन्तु "विधि"=ब्रह्माजी और "गनक"=(गणक) ज्योतिषी को सोच हुआ—दैव और दैवज्ञ दोनों सोच में पड़ गये। क्यों? उत्तर स्पष्ट है। विधाता ने जिसे प्रारब्धहीन बनाया था और ज्योतिषी ने जिसके अमंगलमूर्तित्व का ऐलान किया था उसे मंगलमय होते देखकर उन दोनों को सोच होना स्वाभाविक है। परन्तु तुलसीदासजी अपने इस महत्व को राम-नाम की महिमा का फल समझकर बड़े ढंग से चतुर्थ चरण में पूँछते हैं कि हे "राम" रावरो=आपका "नाम" "सयानो" होशियार है या "बावरो"=बाउला है? आपही बताइये कि जो आपका नाम "तृनते"=तिनके से भी "तनक"=छोटे=तुलसी जैसे प्रारब्धहीन को "करत गिरी ते गरू" अत्यन्त उच्च पद पर बिठाता है—जो दैव की लिखी ललाट-लिपि को भी मेटता है वह सयाना है या बावला? इस पद्य के तीसरे चरण से हमारे उक्त अर्थ की पुष्टि होती है। यदि "परिताप पाप" के कारण गुसाईंजी छिपाकर छोड़े गये थे तो "विधि" और "गणक" को किस बात का सोच हुआ? गणक से तो मतलब ही क्या? हम नहीं समझते कि "मिश्र" जी इससे अधिक स्पष्ट गुसाईंजी से और क्या कहाना चाहते हैं।

यदि गुसाईंजी जारज होते तो "माता को" किसी से कुछ सुनकर "परिताप पाप" करने की जरूरत न होती—उन्हें अपनी कारतूतों का हाल पहले से ही विदित होता और न उस दशा में पिता बधावा बजवाते, बल्कि गर्भ का ज्ञान होते ही—उन्हें गर्भिणी दशा में ही—तिलांजलि दे देते। अपने अपयश का ढिंढोरा न पीटते। एवं यदि अति दरिद्र होते तो भी बधावा बजवा कर परिताप न करते। जिस पद्य को मिश्रजी महाशय गुसाईंजी की निन्दनीयता का प्रमाण समझते हैं, वही विचार करने पर उनकी उज्ज्वलता का प्रबल प्रमाण ठहरता है। यह कहना कि मुहूर्त चिन्तामणि तुलसीदासजी का समकालिक ग्रंथ है कुछ अर्थ नहीं रखता। मु० चि० म० कार ने जो कुछ लिखा है वह उनका कपोलकल्पित नहीं है, प्रत्युत प्राचीन प्रामाणिक सिद्धान्तों का संग्रह है। अतः "जातं शिशुं तत्र परित्यजेत" यह बात उस समय अवश्य प्रचलित थी—अक्षर चाहे और रहे हों।

घर में रहकर यह नहीं हो सकता कि पिता मुँह न देखे अतः माता ने भी उनका परित्याग किया। परन्तु जिन वैरागी महात्मा के अर्पण इन्हें किया था उनके स्थान पर या अन्यत्र माता इनसे मिलती अवश्य रहीं और अत्यंत हित करती रही थीं। उन्हीं से उन्हें अपने जन्म का सब हाल मालूम हुआ और उसी के आधार पर "तुलसिदास हिय हित हुलसी" लिखा गया। पिता कभी नहीं मिले मालूम होते—संभव है ८ वर्ष के भीतर ही उनका देहावसान हो गया हो। इसी से उनके हित की चर्चा नहीं दीखती। गुसाईंजी इस त्याग को कुरीति-जन्य नहीं समझते थे, बल्कि शास्त्र की आज्ञा का पालन—घोरतर पालन—समझते थे। अतएव उन्होंने अन्य कुरीतियों के साथ इसे "फटकार" नहीं बताई।

तुलसीदासजी पापकर्म की सन्तान की तरह परित्यक्त नहीं हुए थे, बल्कि किसी महात्मा की सेवा में समर्पित हुए थे। उन्हीं ने उनका नाम "रामबोला" रक्खा और उन्हीं के साथ वे देश-देशान्तरों में भिक्षा माँगते फिरे जिससे उनका मनस्वी हृदय अनेक बार मर्म्माहत हुआ और उसी के उद्‌गार "बारे ते ललात" इत्यादिक हैं।

गुसाईंजी के माता-पिता की आर्थिक दशा शोचनीय नहीं थी, जिसका प्रमाण "बधावनो बजायो" है। दरिद्रता के वर्णन में उन्होंने सर्वत्र अपना ही जिक्र किया है। उनके पिता के अवश्य बाग आदि रहें होंगे परन्तु पिता की सम्पत्ति पर पुत्र का कुछ अधिकार न देखकर लोगों ने उनके प्रारब्ध की निन्दा की होगी कि इसके प्रारब्ध में एक पेड़ (बिरवा या बरवा) तक नहीं। उसी

की चर्चा उन्होंने "लोक कहै विधिहू न लिख्यो सपनेहु नहीं अपने बरवा है" में की है। मिश्रजी ने "बरवा" का अर्थ "बाल" किया है। सो ठीक नहीं, क्या गुसाईंजी की देह में बाल भी नहीं थे?

मिश्रजी एक ओर तो "मेरे जाति-पाँति न" के आधार पर यह कहते हैं कि तुलसीदासजी को अपनी जाति-पाँति गोत्र आदि का कुछ पता न था और दूसरी ओर "जायो कुल मंगन" से यह बताने की चेष्टा करते हैं कि "वे मंगन कुल के थे––पाप कर्म की सन्तान थे–– माता-पिता से जन्म ही से परित्यक्त थे" इत्यादि। यह परस्पर विरोध है।

आप कहते हैं कि 'जब उन्होंने "पेटागिवश" = भूख के कारण जाति के, अजाति (चण्डाल) के, कुजाति के "टूक" खाये थे, तो उनकी जाति-पाँति हो ही क्या सकती थी?'' इस पर हमारा निवेदन है कि गुसाईंजी का वैरागी होना तो सर्वसम्मत है और वैरागी साधु आज भी किसी के यहाँ की रोटी नहीं लेते। "टूक" की तो बात ही क्या। आटा आदि माँगना और बना के खाना उनका सम्प्रदाय-सिद्ध है, अतः उक्त "टूक" का अर्थ 'रोटी के टुकड़े' नहीं है, जिससे उनके जाति-भ्रष्ट होने की आशंका हो। "वे द्वार-द्वार रोटी के टुकड़े माँगते फिरते थे" यह मिश्रजी का कथन निर्मूल है। जो किसी का अन्न खाकर पलता है उसे उसका नमकख्वार (यद्यपि वह केवल नमक ही नहीं खाता) या टुकड़े खानेवाला कहते हैं। इनमें अन्तिम प्रयोग निरादर सूचन करता है।

अब मिश्रजी का केवल एक प्रश्न और है। वह यह है कि––"यदि तुलसीदास ब्राह्मण होते तो" मेरी जाति-पाँति न 'अपत उतारे' 'सब अंगहीन' 'जाके छाँह छुए' इत्यादि पद अपने लिए क्यों लिखते?

इस पर हमारा विनय है कि तुलसीदासजी ने जो कुछ लिखा है वह काव्य है, इतिहास नहीं, अतः उसकी आलोचना भी साहित्य-दृष्टि से होनी चाहिए, ऐतिहासिक दृष्टि से नहीं। मिश्र महाशय ने जो कुछ लिखा है वह ऐतिहासिक दृष्टि से विचार करके लिखा है। यही कारण है कि आपका लेख भ्रामक और परस्पर विरुद्ध हो गया है। साहित्य दृष्टि और ऐतिहासिक दृष्टि में बड़ा अन्तर है। एक दूसरे के बिलकुल विरुद्ध है। इतिहास में अभिधा-वृत्ति का बड़ा आदर है––स्पष्ट बात सबसे अच्छी समझी जाती है। परन्तु काव्य में वर्णनीय बात को अभिधा से कहना दोष है। जिस अभिधावृत्ति के आधार पर आपने तुलसीदासजी को उन्हीं के शब्दों से "पतित" "अपावन" नीच "जाति-पाँतिहीन" सिद्ध किया है, यदि उसी ढंग से विचार किया जाय तो कोई सुधारक या संशोधक महाशय कह सकते हैं कि तुलसीदासजी मनुष्य नहीं थे–– "कूकर" थे! उन्होंने अपने लिए स्पष्ट ही कूकर लिखा है––"कूकर टूकनि लाग लगाई।" एवं उनके न हाथ थे न पाँव, न कोई और अंग, क्योंकि उन्होंने अपने लिए "सब अंगहीन" लिखा है। और सूरदासजी? वे सूकर थे!! और उनके समय में उनसे बढ़कर कोई दुष्ट नहीं था। न कोई उनके समान कपटी और कामी था। प्रमाण? उन्हीं के वचन। "मोसम कौन कुटिल खल कामी।" अब रहे कालिदास। वे कौन थे? महामूर्ख!! "मन्दः कवियशः प्रार्थी।" इन प्रमाणों से स्पष्ट सिद्ध है कि न तो तुलसीकृत रामायण तुलसीदासजी की बनाई हुई है और न सूरसागर सूरदास जी की रचना है। क्योंकि "सब अंगहीन कूकर" और "सूकर" में ग्रंथ बनाने की योग्यता ही नहीं होती। कालिदासजी के ग्रंथ भी किसी और के बनाये होंगे। क्योंकि वे स्वयं तो मूर्ख थे। यदि अभिधावृत्ति के आधार पर विचार किया गया तो साहित्य-संसार में इसी प्रकार का घोर विप्लव उपस्थित हो जायगा।

साहित्य का अच्छा ज्ञान हुए बिना काव्य की छोटी से छोटी बात की भी यथावत् विवेचना नहीं हो सकती–– काव्यों में व्यंजनावृत्ति का साम्राज्य रहता है। जो भाव सबसे प्रधान रखना होता है उसका नाम लेना तक बुरा समझा जाता है––उसे व्यंजना से ही अभिव्यक्त करना होता है। मिश्र महाशय ने जो पद्य उद्धृत किये हैं उन पर विचार करने से पूर्व यह समझ लेना चाहिए कि उनमें कौन-सा भाव प्रधान है और कौन-सा उपकारक या उपस्कारक। इसके बिना कुछ कह बैठना अनधिकार-चेष्टा होगी। लेख लम्बा हो गया है, अतः हम मिश्रजी के उद्धृत प्रधान पद्य के अर्थ का दिग्दर्शन कराके इसे समाप्त कर देंगे।

"अपत उतार अपकार को अगार जग जाके छाँह छुए सहमत व्याध बाध को। पातक पुहुमि पालिबे को सहसानन सो कानन कपट को पयोधि अपराध को। तुलसी से वाम को भो दाहिनो दया निधान सुनत सिहात

सब सिद्धि साधु साधु को। रामनाम ललित ललाम कियो लाखन को बड़ो क्रूर कायर कपूत कौड़ी आध को।"
९ कवितावली--उत्तरकांड।

इस पद्य से कवि हृदयनिष्ठ रामनाम-विषयक रतिभाव (भक्ति) प्रधानतया अभिव्यक्त होता है। रामनाम का लोकोत्तर महत्त्व (वर्ण्यमान) उसका उपस्कारक है। "दयानिधान" होना महत्त्व का उपकारक है और तुलसी से वाम (कुटिल) के ऊपर भी दाहिना (अनुकूल) होना दया की पराकाष्ठा का द्योतक है। "वाम" और "दाहिनो" शब्दों में विरोधाभास भी है। इस प्रकार तुलसी की वामता जितनी ही अधिक होगी उतना ही राम या रामनाम का दाहिनापन--जो उनके महत्त्व और दया का द्योतक है--अधिक सिद्ध होगा। इसलिए उक्त पद्य के पूर्वार्ध में कवि ने उपमा, रूपक और अतिशयोक्ति के द्वारा अपनी वामता का चित्र उतना ही गहरा खींचा है जितनी गहरी उनमें रामनाम की भक्ति थी। "नहि निन्दा निन्द्यं निन्दितुं प्रभवति, अपि तु प्रशस्यं प्रशंसितुम्। के अनुसार इस निन्दा का तुलसी की निन्दनीयता में तात्पर्य नहीं, बल्कि राम की महनीयता से तात्पर्य है। मतलब यह है कि इतने अधिक पातक भी (पातकी नहीं) जिसके 'दाहिने' होते ही काफूर हो जाते हैं और जो इतना दयानिधान है कि घोरतम पापियों पर भी दया करता है। वही तुलसी पर कृपालु हुआ और उसने उसे सर्व शिरोमणि-जगत्पूज्य बना दिया--बड़ा क्रूर कायर कपूत आध कौड़ी का आदमी लाखों का ललित-ललाम बन गया। ऐसे लोकोत्तर महिमशाली दयानिधान की दया का वर्णन कौन कर सकता है? उसकी शरण छोड़कर कौन बुद्धिमान इधर-उधर भटकेगा? इत्यादि।

यदि अभिधावृत्ति से इसके पूर्वार्ध का अर्थ किया जायगा तो उदाहरण मिलना असम्भव हो जायगा--मनुष्य तो क्या, किसी राक्षस में भी इतने दोष इकट्ठे न मिल सकेंगे। फिर तुलसीदासजी से साधु में इन्हें ढूंढ़ना कहाँ तक बुद्धिमानी है? तीन प्रकार के कवियों में से गोस्वामी तुलसीदास जी परम भागवत थे--उनकी अनुपम भक्ति उनके प्रत्येक पद्य से प्रकट होती है। नवधा-भक्ति का जहाँ वर्णन है वहाँ दैन्य और आत्मसमर्पण को भक्ति का अंग कहा है। भक्ति के बल से--भावना की अविरत धारा के प्रभाव से--प्रत्यक्षापमाण भगवान् के आगे अपनी दीनता प्रकट करना और फिर दीनतावश अशरण आत्मा (अपने) को दीनबन्धु भगवन् के चरणों की शरण में समर्पण कर देना भक्ति के उत्कृष्टतम अंग हैं। दैन्य या दीनता अंतःकरण की उस दशा का नाम है जो दुःख-दारिद्र्य या अपराध आदि के वशीभूत, निरुपाय प्राणी को होती है--जिसके कारण मनुष्य अपनी दीनता, निकृष्टता आदि का कथन करने लगता है। "दुःखदारिद्र्यापराधादिजनितः स्वापकर्षभाषणादिहेतुश्चित्तविशेषो दैन्यम्" रसगंगाधरः।

कोई भक्तजन भक्तवत्सल भगवान् के ध्यान में निमग्न बैठा है--भावना के बल से उसने अपने आराध्य देव का साक्षात्कार किया, उन्हें अपने सामने खड़े देखा। देखते ही भक्त के गात्र पुलकित हो उठे। देह में रोमांच होने लगा। कण्ठ गद्गद हो गया और नेत्रों से आनन्दाश्रु की धारा बहने लगी; इस प्रेम-विह्वलता की दशा में भक्त भगवान् से कहता है कि भगवन्, कहाँ मुझ जैसा पतित अपावन नीच व्यक्ति और कहाँ आपके दर्शन! हे करुणामय यह आपकी करुणा की ही महिमा है जो इस अकिंचन दीन पर दीनबन्धु ने दया दृष्टि की है। भगवन्, मैं दीन हूँ, पतित हूँ, अशरण हूँ। मुझे कहीं ठिकाना नहीं। हे पतित पावन, हे दीनानाथ, हे अशरण-शरण, मेरी ओर दया दृष्टि कीजिए--मुझे अपनाइये--संसार-सागर से मेरा निस्तार कीजिए। "मो सम कौन कुटिल खल कामी........ सूर पतित कौ ठौर कहूँ नहीं गहियौ श्रीपति स्वामी"। इस प्रकार की 'प्रेम लपेटी अटपटी' वाणी से उस भक्त को पतित, नीच, दीन, पापी, आदि सिद्ध करने की चेष्टा करना अवश्य ही--दुःसाहस है धृष्टता है। उस पवित्र दशा से ऐसे अपवित्र परिणाम निकालना अनुचित है। मिश्र महाशय से प्रार्थना है कि वे इस काव्य की आलोचना काव्य दृष्टि से ही करेंगे।

१९१८

❀ ❀ ❀

मन-मौजी मज़मून

प्रो० अमरनाथ झा, एम० ए०

गरमियों की छुट्टी आने वाली है—इस बात से हमें बड़ा ही आनन्द होता था। आश थी कि साल भर के न किये गये कामों को करूँगा—आनेवाले साल की तैयारी करूँगा। रोज-रोज वही काम करने से जो परेशानी होती है उससे बचूँगा। कई नई किताबों को पढ़कर उनकी समालोचना लिखूंगा। मैं आनेवाली तीन महीने की छुट्टियों की उमंग में भूल गया कि और साल भी ऐसी ही छुट्टियां मिलती थीं, और साल भी ऐसी आशायें दिल में उपजती थीं। कभी भी तो वे आशायें फलीभूत नहीं हुईं; फिर क्यों अब भी मनसूबे बाँधता हूँ! कारण केवल यही है 'आशा बलवती राजन्'। खैर, छुट्टी हुई। अप्रेल की तेईस तारीख से छुट्टी हुई। अब पहाड़ पर जाने की इच्छा हुई। लेकिन, भाई, उसके लिए बहुत-सा रुपया चाहिए। वह कहाँ से आवे? जाने की इच्छा है तो सही, पर 'जर नदारद'। अच्छा तो अगर नैनीताल और शिमला नहीं नसीब है तो इलाहाबाद ही में रहा जाय। आखिर इस प्रान्त की सरकार की जाड़े की राजधानी यही तो है। मैं इसे अपनी ग्रीष्म की ही राजधानी बनाऊँगा। है भी यह सर्वथा इस सम्मान के योग्य। सुनिए, मैं इसे इस योग्य क्यों समझता हूँ।

इलाहाबाद में 'लू' महाराज के दर्शन प्रतिदिन ११ बजे से ५ घं० ३५ मि० ८ सेकेण्ड तक होते हैं। अवश्य देवतागण प्रयाग-निवासियों पर विशेषरूप से प्रसन्न हैं छः सात घंटे के लिए 'लू' भगवान् स्वर्ग से उतर कर प्रयाग में नित्य निवास करें, दीन भक्तों को प्रसन्न करें और अनीश्वरवादियों का सत्यानाश करें। इतना ही नहीं। लू भगवान् कोई ऐसे वैसे तैंतीस कोटिवाले देवताओं में नहीं हैं। देवता तो यह प्रतीक्षा करते हैं कि भक्त उनके मन्दिर में आकर 'पत्रं पुष्पं फलं तोयं' से अर्चना करे। लेकिन लू भगवान् में इतना स्वार्थ, इतनी क्रूरता नहीं है। यदि आप इनके उपासक हैं तो आपको मन्दिर नहीं जाना पड़ेगा। पुजारी को भेंट नहीं चढ़ानी होगी, घंटों स्तोत्रपाठ नहीं करना होगा। यदि आप सच्चे भक्त हैं तो आपके इष्ट भगवान् स्वयं, अनाहूत, आपके यहाँ नित्य उपस्थित हैं। और आते भी हैं तो छिपकर, चुराकर नहीं। सारे जगत् को मालूम हो जाता है कि 'लू' भगवान् ने आपके यहाँ आने की कृपा की है। दरवाजे शंखध्वनि करने लगते हैं। हवा मधुर स्वर से स्तुति करती है, वृक्षलतायें सानन्द झूम-झूम स्वागत करती हैं और आप अपने शरीर के धर्म्म से उनकी पूजा करते हैं—'इदमाचमनीयं भगवते श्रीलूदेवाय नमः'। आपकी अपार भक्ति के प्रभाव से, सूर्य की प्रखर किरणों की कृपा से, आपके कमरे में शीत नहीं आने पाता। यदि आपमें कुछ भक्ति की कमी हो जाती है तो जैसे अज्ञान-तिमिर से मूर्ख अपने हृदय को अन्ध कर लेता है, वैसे ही आप खस खस की टट्टी से 'लू' भगवान् के शुभागमन के मार्ग को अवरुद्ध करना चाहते हैं। लेकिन 'क्व वयं? क्वहि 'लू' महाशयाः?' उस दिन, जनाब, ये आवेंगे ही नहीं। आप लाख खस की टट्टी लगाइए। आपके उपास्य देव अप्रसन्न हो गये। आपने पश्चिम में टट्टी लगाई तो, लीजिए। ये पूर्व दिशा से आ रहे हैं। आपने पंखा-'कुली' से कहा कि 'लू' भगवान् का आदर पंखा झलकर करो। तो इनके प्रभाव से पंखा से भी भभकती हुई गर्म हवा आपको मिलती है।

अच्छा, तो प्रयाग को राजधानी बनाने का मुख्य कारण यह है कि यहाँ एक प्रधान देव के दिव्य दर्शन होते हैं। किन्तु यही एक कारण नहीं है। यहाँ की म्यूनिसिपैलिटी भी ऐसी है कि उसके स्नेह-पाश में फँसकर आप निकल ही नहीं सकते। और यह बन्धन भी ऐसा मनोहर, हृदय-रंजन, चित्तामोदक होता है कि इससे मुक्त होने की आपको अभिलाषा भी नहीं होती। सड़कों को गरमी में यह कीचड़ से बचाती है। पानी अगर सड़कों पर पड़े, कीचड़ में पथगामियों को कष्ट होगा, इसलिए इसकी आज्ञा यही है कि अगर कहीं पानी सड़क पर मिले तो उसे वहाँ से हटा लेना चाहिए। भारतवर्ष के लोग दरिद्र हैं। इस कष्ट से करुणा-पूर्ण 'म्यूनिसिपैलिटी' दरिद्रों को अन्न वितरण बिना मूल्य करती है। जो चाहे सड़क पर दो मिनट खड़ा रहे और उसका उदर धूलि रूपी अन्न से पूर्ण हो जायगा, उसकी बुभुक्षा शान्त हो जायगी। डाक्टरों का यह कहना

है कि अधिक पानी नहीं पीना चाहिए। इसलिए म्यूनिसिपैल्टिी ने यह सुप्रबन्ध कर दिया है कि ९ बजे दिन से ५ बजे शाम तक पानी नल में न दिया जाय। अगर कुछ प्यास लोगों को लगती भी है, तो भी अधिक पानी पीने से जो लोगों को रोग होता है उससे सब मुक्त हैं। म्यूनिसिपैलिटी के कितने गुणों का गान करें। आपने शायद सुना होगा कि बिजली की रोशनी में पढ़ने-लिखने से आँखें खराब हो जाती हैं। म्यूनिसिपैलिटी को आपकी आँखों का भी बड़ा खयाल है। उसने जो सड़कों पर लैम्पें रक्खी हैं—वे अव्वल तो आठ बजे के पहले शायद ही जलाई जाती हैं और फिर उनकी ज्योति ऐसी मन्द है कि आपकी आँखों पर जरा-सा भी आघात नहीं पहुँचता।

अच्छा, तो इलाहाबाद में रहे। बरफ की आदत बुरी होती है, इससे कृपार्द्र दूकानदार चार आने सेर इसे बेचते हैं। बिजली की रोशनी और पंखों की आदत भी अच्छी नहीं। 'इलेक्ट्रिक सपलाई कम्पनी' भी इसी कारण बहुधा दोपहर को बिजली बन्द कर देती है। गरमी में रात को काम कम करना चाहिए। इसलिए मिट्टी का तेल आठ आने बोतल मिलता है। सब तरह का आराम इलाहाबाद ही में है—लू यहीं है, सड़क पर पानी का अभाव यहीं है, यहीं बिना मूल्य अन्न-वितरण होता है, अत्यधिक जलपान-जन्य रोग से यहीं लोग मुक्त रहते हैं।

साल भर परिश्रम बहुत किया था—पढ़ाया था और कुछ पढ़ा भी था। फिर भी और कोई काम न रहने के सबब से पढ़ने का इरादा किया। 'बाईबल बुक डिपो' से मरक्को चमड़े की जिल्द बँधी कई किताबें ले आया। एक दिन श्रीराम करके पढ़ने भी लगा। थोड़ी देर बाद देखते हैं कि जिल्द का सब सौन्दर्य पसीने में बहा चला जा रहा है। किताब जल्दी से बन्द कर दी। सोचा पढ़ नहीं सके, तो कुछ लिखने का ही प्रयत्न करें। सम्पादक महोदय की बहुत दिनों से आज्ञा हुई थी कि 'कुछ भेजो'। 'कुछ भेजो'। मैं यही उत्तर देता था कि 'गर्मी की छुट्टी में यथासाध्य आपकी आज्ञा का पालन करूँगा।' फिर तकाजा आया—'कुछ लिखा?' लिखें क्या? ऐसी हालत में दिमाग भी काम करे? मगर कहाँ बचने पाते हैं? खैर, लिखने बैठे। सोचा, किस विषय पर लिखें तो आधुनिक शिक्षा-प्रणाली की याद आई। आधुनिक शिक्षा-प्रणाली, सामाजिक सुधार इत्यादि कई विषय उपस्थित हुए। लेकिन उस पर सोचने लगे तो आध पेज का भी मसाला न मिला। इतने में सम्पादक महोदय के आदेश का स्मरण हो आया "जो तुम्हारी मौज में आवे उसी पर लिखो।" इस आदेश से हिम्मत बँधी और मन-मौजी मजमून पर लिखना आरम्भ कर दिया।

१९१९

❀ ❀ ❀

भारत में पहला मुसलमान यात्री

श्री मौलवी महेशप्रसाद, आलिम फाजिल

भारतवर्ष में जिस प्रकार अनेक चीनी, यूनानी, फ्रांसीसी, अँगरेज, तथा अन्य योरप-निवासी यात्री आये हैं, उसी प्रकार अनेक मुसलमान यात्री भी आये हैं। मसऊदी, अलबेरूनी, और इब्नबतूता आदि यात्रियों का नाम और काम इस सम्बन्ध में विशेष गौरव रखता है। पर सबसे पहले जिसने यात्रा की वह बसरा अथवा फारिस का एक सौदागर था। उस का नाम सुलैमान था। उसने केवल भारत की ही यात्रा नहीं की थी, बल्कि वह चीन को भी गया था। उसका चक्कर भारत तथा चीन में केवल एक ही बार नहीं लगा था। वह कई बार व्यापारार्थ इन देशों में आया था। उसकी यात्राएँ सन् ८५१ ईसवी से कुछ पहले ही हुई हैं।

सुलैमान के यात्रा-विवरण का सम्पादन अबूजैद नाम के एक व्यक्ति द्वारा हुआ है। वह फारिस देश के सीरफ नामी बन्दर का निवासी था। परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि वह भी बसरा में ही रहा करता था। सुलैमान ने जो बातें भारतवर्ष के सम्बन्ध में स्वयं लिखी थीं अथवा

लिखवाई थीं उन्हीं के साथ कुछ अपनी जानकारी के सहारे अबूजैद ने भी पृथक् लिखी हैं। अबूजैद भारत अथवा चीन में स्वयं नहीं गया; परन्तु उसका कथन है कि जो कुछ मैं लिख रहा हूँ वह विश्वस्त मार्ग से जानी हुई बातों के आधार पर लिख रहा हूँ। इस प्रकार सारी लेखावली दो विभागों में विभक्त है और सारे ग्रन्थ का नाम अरबी में सिलसिल-तुत्तवारीख (سلسلة التواريخ) है।

जिस प्रकार संस्कृत की हस्तलिखित पुस्तकें योरप के पुस्तकालयों में विराजमान हैं उसी प्रकार अरबी की भी अनेक हस्तलिखित पुस्तकें वहाँ पहुँच चुकी हैं। अस्तु; इस तवारीख की एक हस्तलिखित प्रति एक फ्रांसीसी सज्जन के पुस्तकालय में मिस्टर अबे रिनाड (Abbe Renodt) को मिली। उन्होंने आज से दो सौ वर्ष पहले, अर्थात् सन् १७१८ ईसवी में उसका अनुवाद फ्रांसीसी भाषा में छपवाया। बाद को सन् १८११ ईसवी में, एम० लैंगलेस (M. Langles) ने अरबी की मूल सामग्री को प्रकाशित किया। पर सबसे अच्छी आवृत्ति वह है जो एम० रीनाड (M. Reinaud) द्वारा, सन् १८४५ ईसवी में, पेरिस से दो भागों में प्रकाशित हुई है। उसका नाम है—"Relations des Voyages Faites par les Arabes et les Persans dansl' Inde et la chine उसमें मूल अरबी भी है और फ्रांसीसी अनुवाद के साथ यथेष्ट टीका-टिप्पणियाँ भी हैं।

सुलैमान की यात्रा-पत्री, सारी की सारी, बड़ी मनोरंजक है। उससे भारत के इतिहास में कुछ वृद्धि हो सकती है।

नमूने के तौर पर इस यात्रा-विवरण की कुछ बातें हम नीचे प्रकाशित करते हैं—

राजे-महराजे

हिन्द के राजे अपने आप को किसी के अधीन नहीं समझते। प्रत्येक राजा अपने आपको स्वतन्त्र मानता है। पर बलहरा* को सम्राट् की पदवी प्राप्त है। वही हिन्द में सबसे अधिक प्रसिद्ध राजा है। उसका राज्य बहुत बड़ा है। इस राज-घराने के सारे-राजाओं की पदवी 'बलहरा' होती है, और यह पदवी ऐसी ही है जैसी कि खुसरो (फारिस के बादशाहों) की पदवी है। इसके राजदूत का सम्मान प्रत्येक राजा बड़े आदर के साथ करता है। समस्त राजे इसी को अपना महाराजा समझते हैं।

सेना और संग्राम

राजाओं के यहाँ सेनायें बहुत हैं, पर उनको वेतन नहीं दिया जाता। केवल धर्म्म-युद्ध के अवसर पर ही राजा उन्हें जमा करता है। सेना किसी प्रकार के वेतन के बिना ही युद्ध में शामिल होती है। देश छीनने की गरज से बहुत कम संग्राम ठनते हैं। जब कोई राजा किसी अन्य का राज्य छीन लेता है तब वह स्वयमेव वहाँ का राजा नहीं बन बैठता। बल्कि परास्त राजा के कुटुम्बियों में से ही किसी को राजा बना देता है। वह विजयी राजा के नाम पर शासन करता है।

आचार-विचार

हिन्द के निवासी नाच-राग-रंग को वस्तुतः बुरा समझते हैं और उसमें शरीक नहीं होते। ये लोग मदिरा-पान भी नहीं करते और न सिरका ही खाते हैं। क्योंकि सिरका भी तो एक प्रकार का मद्य ही है। इनका ऐसा करना कुछ धार्मिक दृष्टि से नहीं बल्कि यह बात ही उनके यहाँ निषिद्ध समझी गई है। इनका खयाल है कि जो राजा मद्य पीता है वह राजा ही नहीं। आस पास के राजा बहुधा युद्ध के लिए उद्यत रहते हैं। अतएव जो राजा मद्यप होता है वह अपना राज्य नहीं सँभाल सकता।

मृतक

सारे भारतवासी अपने मृतकों को जलाते हैं। कभी-कभी जब कोई राज-शव जलाया जाता है तब उस राजा की रानियाँ चिता में कूद पड़ती हैं और जल भुनकर ख़ाक हो जाती हैं। पर ऐसा करना उनकी इच्छा पर है। वे ऐसा करने के लिए बाध्य नहीं।

दण्ड

जब कोई मनुष्य किसी पर दोषारोपण करता है तब प्रतिवादी की परख लाल दहकते हुए लोहे से की जाती है अथवा गर्म खौलते हुए पानी से। पानी एक बड़े बरतन में खूब गर्म किया जाता है। फिर उसमें एक लोहे का छल्ला डाल दिया जाता है। प्रतिवादी उस छल्ले को हाथ डाल कर निकालता है। मैंने स्वयं देखा है कि एक मनुष्य ने ऐसा ही किया। परन्तु उसे कुछ हानि न पहुँची। जब प्रतिवादी को बिलकुल हानि नहीं पहुँचती तब वादी को एक मन सोना अदा करना पड़ता है।

---

*मालूम नहीं, बलहरा से मतलब किस राजा से है।

अब चीन की कुछ बातें सुनिए—

चीन के फरियादी

चीन के प्रत्येक नगर में अत्याचार से पीड़ित लोगों के निमित्त एक चीज होती है जिसको दरा कहते हैं। वह वास्तव में एक घण्टी है जो नगर के शासनाधिकारी के सिर पर बँधी रहती है। उस घण्टी में लगभग ३ मील की लंबी एक डोरी लगी रहती है जो सर्वसाधारण के निमित्त एक खुली जगह से गुजरती है। उस लम्बी डोरी को तनिक भी हिलाया तो घण्टी शासनाधिकारी के सिर पर बज उठती है। बजते ही फ़रियादी को अन्दर आने की आज्ञा दी जाती है। वह स्वयमेव अपनी गाथा सुनाता है। यह रीति सब नगरों में प्रचलित है।

चीन के मृतक

चीन में जब कोई मर जाता है तब जिस दिन उसका प्राणान्त होता है उसी दिन अगले वर्ष वह गाड़ा जाता है। शव को टिकटी पर रखकर उस पर चूना डाल देते हैं और उसे घर में ही रहने देते हैं। बादशाहों को मुसब्बर (ऐलुवा) और काफ़ूर में बहुत सालों तक रखते हैं। जो आदमी इनके निमित्त रोता नहीं उसकी खबर डंडे से ली जाती है।

आवागमन की बाबत इनके तथा भारतवासियों के विचारों में किसी कदर मतभेद अवश्य है, पर निर्विवादित रूप से चीनी भी भारतवासियों के समान आवागमन के कायल हैं। वे यह भी स्वीकार करते हैं कि धार्मिक मामलों में हिन्दवाले वास्तव में हमारे गुरु हैं।

सुलैमान ने जो सामग्री संकलित की है वह उसके थोड़े काल की जानकारी के आधार पर नहीं है। सुलैमान का कथन है कि उसका सम्बन्ध भारतवर्ष के साथ बहुत समय तक था। उसने लिखा है कि एक बार मैंने एक मनुष्य देखा। वह केवल एक ही मृग चर्म्म धारण किये हुए सूर्य की ओर मुख किये खड़ा था। सोलह वर्ष बाद जब मैं फिर उस स्थान पर आया तब क्या देखता हूँ कि वह मनुष्य उसी तरह खड़ा था। अतएव सिद्ध है कि सुलैमान ने जो बातें लिखी हैं वे सुनी-सुनाई नहीं लिखी, अपनी आँखों देखी लिखी हैं। इसीसे उसका यात्रा-विवरण बड़े महत्त्व का है।

१९२०

❀ ❀ ❀

ब्रजभाषा का काव्य और शृंगार-रस

डा० रामप्रसाद त्रिपाठी

हिन्दी-काव्य का दर्शन सबसे पहले उस समय हुआ जब संस्कृत-काव्य का ह्रास और भारत की राजनैतिक तथा सामाजिक अवस्था में विप्लवात्मक परिवर्तन हो रहा था। हिन्दी के कवि प्रायः भाट या चारण होते थे। इनका मुख्य काम था अपने आश्रयदाता राजा के वंश का गुण-गान करना और अपनी ओजस्विनी कविता से योधाओं को उत्तेजित और रणाभिलाषी बनाना। तत्कालीन विद्वानों में हिन्दी का विशेष आदर हो ही कैसे सकता था। उसके भविष्य का ज्ञान भी किसी को न था। हिन्दी-कविता यद्यपि ओजस्विनी और सबल हो चली थी, परन्तु उसमें विशेष रूप से ध्यान देने योग्य कोई बात न थी। हिन्दू-राज्य की सत्ता ज्यों ज्यों शिथिल होती गई त्यों त्यों कविता भी निर्बल अथ च निस्सार होती गई; यद्यपि ऐसा बिरला ही दरबार था जहाँ भाट या चारण न हों। परन्तु उनमें कोई विशेष रूप से उल्लेख्य नहीं।

यहाँ पर हम हिन्दी-साहित्य के सम्बन्ध में कुछ विचार प्रकट करेंगे। अतएव उससे सम्बद्ध कुछ ऐतिहासिक विचारों को हृदयङ्गम कर लेना आवश्यक है। क्योंकि आगे, ऐतिहासिक विचारों के अनुसार, निष्कर्ष निकालना होगा।

जिन्होंने रामायण, महाभारत तथा पुराण आदि पढ़े या सुने हैं वे जानते हैं कि भगवान् के अवतार लेने का कारण "धर्म की ग्लानि" और "दुष्कृतों की प्रबलता" होना बतलाया गया है। असुरों के अत्याचार से पीड़ित पृथ्वी,

गाय का रूप धारण कर, विधाता को दुखड़ा सुनाने गई। पृथ्वी की, और देवताओं की भी, यह हालत देखकर विधाता को दया आई। उन्होंने अपनी ओर से तथा देवताओं की ओर से भी प्रार्थना की। प्रार्थना स्वीकृत हुई और नये युग का आरम्भ हुआ। सातवीं शताब्दी से लेकर चौदहवीं शताब्दी तक हिन्दुओं पर अगणित आपत्तियाँ पड़ीं। पहले की तरह उन्हें असुर-निकन्दन की शरण लेनी पड़ी। रघुवंश (१०–३४, ३८), कुमार-सम्भव (३-५१) और माघ (१-७२, ७३) आदि साहित्य-ग्रन्थों में ये भाव भरे पड़े हैं। पृथ्वीराज-विजय-काव्य के निर्माता जोनराज कवि ने तो खासा उपालम्भ दिया है।

त्वयाऽपि नूनं कलिकाल-रात्रौ निद्राविधेयत्वमुपागतेन।
केशान् घनान् गर्जित-घूर्णनेन हित्वा स्थितं शान्तितया जिनत्वे।

मनुष्यों के हृदय में इसी प्रकार के भाव स्थान पा रहे थे। अतएव उन्हें मर्यादा-पुरुषोत्तम रामचन्द्र और योगेश्वर श्रीकृष्णचन्द्र के चरित्र अधिक रुचिकर और आशाजनक ज्ञात हुए। इसीसे मनुष्यों की प्रवृत्ति भागवत धर्म की ओर सहज ही हो गई।

आत्मिक कष्ट के समय उत्तरी भारत को दक्षिण से श्री शंकराचार्य द्वारा सहायता मिल चुकी थी। वहीं के श्री रामानुजाचार्य, कृष्णोपासना के प्रचार के लिए अग्रणी बने। यहाँ, उत्तरी भारत में कई परिवर्तन भी हो गये। पठान-साम्राज्य का अन्त हो गया। राजस्थान में मेवाड़ ने अच्छी उन्नति की। समयानुकूल सिद्धान्त ग्रहण करने के लिए जनता भी प्रस्तुत हो गई। इसी समय महात्मा रामानन्द दक्षिण से, बंगाल होते हुए, मध्यप्रदेश में धर्म्म-प्रचार करने पधारे। धर्म को सबके ग्रहण करने योग्य बनाने के लिए बाबा गोरखनाथ आदि ने हिन्दी-भाषा में उपदेश देना आरम्भ किया था। अतएव रामानन्दजो ने भी हिन्दी-भाषा का ही सहारा लिया। आपके शिष्य कबीरदास जी ने ऐसा ज्ञानामृत बरसाया कि मरुभूमि में भी ज्ञान का सोता बह निकला। आपके ज्ञानसागर से सन्तुष्ट होकर गोस्वामी तुलसीदासजी ने रामचरितमानस की सृष्टि की।

सोलहवीं शताब्दी के आरम्भ में तैलंग देश से महाप्रभु वल्लभाचार्य जी मथुरा के समीप ठहरे। आप बड़े भारी विद्वान थे। शीघ्र ही आप की प्रतिष्ठा होने लगी। आपके आगमन से ब्रज में फिर प्रेम की यमुना बहने लगी। आज भी ब्रज के मुख्य-मुख्य स्थानों को देखकर हृदय पुलकित हो जाता है। तब वल्लभाचार्य जी का और उनके पुत्र भक्तशिरोमणि विट्ठलनाथ जी का हृदय भावमय हो गया तो इसमें आश्चर्य ही क्या। कविवर बिहारीलाल ने ठीक ही कहा है।

सघन कुञ्ज छाया सुखद, सीतल मन्द समीर।
मन ह्वै जात अजौं वहै, वा जमुना के तीर॥

कृष्ण-भक्त्यात्मक धर्म ग्रहण करने के लिए ब्रजवासी तैयार थे ही। वल्लभाचार्य के उपदेश सुनकर उनके हृदय गदगद हो गये। उनके भाव, काव्य के रूप में, प्रकट हो गये। ब्रजमण्डल और ब्रजवासी प्रेम में किसी से पीछे कैसे रहते? ब्रजवासियों और ब्रजबालाओं की भाव-लतिका भाषा और जीवनचर्या रसमयी तथा लालित्यपूर्ण थी। अतएव कविता के लिए ब्रज से बढ़कर उत्तम क्षेत्र और कौन हो सकता था। मुरली-मनोहर ने यहीं तो मधुर मुरली बजाई थी। आपके रस-रास का क्रीड़ास्थल भी यही स्थान था।

सच पूछिए तो हिन्दी साहित्य की उन्नति और काव्य की सरसता ब्रजवासियों की भावुकता का ही फल है। इसके पहले इने-गिने दो-चार कवियों और काव्य-पुस्तकों को छोड़कर हिन्दी में और था ही क्या। गोरख, कबीर और अन्य सन्त-महन्तों की रचना ज्ञान से पूर्ण है सही और काव्य में वह रत्न-सदृश तथा आदरणीय भी है, पर उसमें विशेष रस नहीं। इनकी रचना के कारण कविता-सरिता के आगे बह निकलने में सहायता भी खूब मिली, परन्तु वह रचना उच्च श्रेणी में नहीं रक्खी जा सकती। हिन्दी-काव्य तो कृष्ण के उपासक ब्रजवासियों की सहृदयता और मधुर ब्रजभाषा का ही प्रसाद है।

हिन्दी-कविता की वृद्धि का कारण राजस्थान के मेवाड़ वंश की उन्नति भी है। इससे हिन्दुओं के हृदय आशान्वित होकर भावपूर्ण कविता लिखने की ओर झुके। राना संग्रामसिंह की हार से कविता की उन्नति में ठेस लग जाती, यदि ब्रज के समीप आगरे में सहृदय सम्राट् अकबर राजधानी को न उठा लाते। राजधानी और राजदरबार का ब्रजमण्डल के निकट आ जाना ब्रजभाषा की उन्नति के लिए दृढ़ कारण हो गया। अकबर के दरबार और दरबारियों में साहित्य

की अच्छी चर्चा तथा कवियों और काव्य की खासी चहल-पहल रही। साहित्य-सेवा की इच्छा से, फारस और अन्यान्य देशों से आ आकर, सहृदय कवि राजधानी में बस गये, फारसी आचार-विचार, भाव और काव्य-शैली की उन्नति ब्रजभाषा और कविता के लिए सहायक हुई। ब्रज-वासी सहृदय, प्रेमी, सौन्दर्य के उपासक, शृंगार के रसिक और माधुर्य के मधुकर थे। फारसी के प्रेमी भी ऐसे ही थे। इनके बीच एक प्रकार की मित्रता भी हो गई। सम्राट् और कुछ मुख्य सचिव, सेनानायक एवं राजकवि ब्रज-भाषा के प्रेमी हो गये। इनकी देखा-देखी औरों में भी ब्रजभाषा का आदर बढ़ा। छोटे-छोटे राजाओं और नवाबों के दरबारों में भी ब्रजभाषा और हिन्दी-काव्य की पहुँच हो गई। क्योंकि बड़े दरबारों की नकलें ही तो छोटी बैठकें हैं। भाषा-कवियों के भाग्य खुल गये। वे राजसी ठाट-बाट से रहने लगे। इनका आदर देख और लोग भी हिन्दी-कविता और ब्रजभाषा का अध्ययन, ध्यान लगाकर, करने लगे। क्योंकि इससे मनोविनोद तो होता ही था, साथ ही आर्थिक लाभ की भी आशा थी। भक्ति और शृंगार-विषयक कविता कुछ हिन्दू ही न करते थे, मुसलमानों ने भी इस ओर ध्यान दिया है। कवि होलराय ने एक प्रकार से ठीक ही कहा है–

दिल्ली ते न तख्त ह्वैहै वख्त ना मुगल कैसो
ह्वैहै ना नगर बढ़ि आगरा नगर ते।
गंग ते न गुनी तानसेन ते न तानबाज
मान ते न राजा औ न दाता बीरबर ते॥
खान खानखाना ते न नर नरहरि ते न
ह्वैहै ना दिवान कोऊ बेडर टडर ते।
नओ खण्ड सात दीप सात हू समुद्र पार
ह्वैहै ना जलालदीन शाह अकबर ते॥

ब्रजभाषा के काव्य और उसकी उत्पत्ति पर विचार हो चुका। अब देखना है कि वह काव्य कैसा है। ब्रजभाषा में कृष्णभक्त्यात्मक और खासकर शृंगार रस की कविता है। डाक्टर ग्रियर्सन आदि कुछ विद्वानों की और तदनु-कूल विचार रखनेवाले कुछ भारतीय विद्वानों की भी समझ में शृंगार-रस का प्राधान्य तत्कालीन भोग-विला-सिता का द्योतक है; और इसका प्रभाव हमारे विचारों पर तथा भारतीय आचरण पर बुरी तरह पड़ा है। अतएव इस ओर भी सावधानी से विचार कर लेना आवश्यक है।

साहित्यशास्त्रियों ने काव्य की परिभाषा कई प्रकार की बनाई है। परन्तु उनके मुख्य आशय में विशेष अन्तर नहीं। भावलहरी, पदलालित्य और सुन्दर शब्दावली की गूढ़ और मृदु मैत्री से काव्य की उत्पत्ति हो जाती है। भाव और रस के मुख्य भेदों को कवियों ने गिनाया है। परन्तु वास्तव में इनकी संख्या करना आकाश की तारावली गिनना है। सहृदय और तरंगित हृदयों में, पात्र के अनुकूल, ये उत्पन्न होते हैं; परन्तु इनको वाक्य-तन्तुओं से बाँध लेना कवियों ही का काम है। किन्तु जातीय काव्य का उद्भव तभी होता है जब एक ही काल में बहुत से व्यक्तियों के हृदयान्तर्गत समान भावों की जागृति होती है। यह अवस्था समय-विशेष की सामाजिक, आत्मिक, राजनैतिक तथा अन्यान्य सर्वव्यापक कारणों के योग से उपस्थित हो जाती है। अतएव जातीय साहित्य और काव्य, कालक्रम के अनुसार, स्थिर किया जाता है। संसार की सभी जातियाँ, उनका कार्यक्रम और ऐतिहासिक संसरण एक-सा नहीं होता। सबमें किसी न किसी प्रकार की विशेषता अथवा भिन्नता अवश्य रहती है। सब फूलों और लताओं के रंग-रूप एक-से नहीं होते। उनके गुणों और सौरभ में भी समता और सादृश्य नहीं होता। इसी कारण, प्रत्येक जाति का साहित्य भी भिन्न-भिन्न होता है। यदि किसी देश का साहित्य बुरा है तो उससे यह फल निकलता है कि उस देश की साधारण अवस्था अवश्य बुरी होगी। साहित्य की हीनता पर शोक प्रकट करने के पहले तत्कालीन इतिहास और सभ्यता पर दो आँसू डालना न्यायसंगत और स्वा-भाविक है। इसी प्रकार साहित्य की श्रेष्ठता और परि-पूर्णता से जातीय श्रेष्ठता और परिपूर्णता का भी अनुमान किया जा सकता है।

हम पहले लिख चुके हैं कि पन्द्रहवीं और सोलहवीं शताब्दियों में भागवत धर्म की उन्नति हो रही थी; परन्तु भक्ति मार्ग के वैष्णव-सम्प्रदाय की प्रबलता थी। यही भाव मनुष्यों के हृदयों को आन्दोलित कर रहे थे। इन्हीं भावों का विकास कवियों की अमृतमयी भाषा में हुआ। ब्रजभूमि में पहुँचकर वैष्णव धर्म ने और भी बल प्राप्त किया और इस पर एक विशेष रंग चढ़ गया। ब्रजनायक श्रीकृष्णचन्द्र के जीवन-चरित्र का प्रथमांक यहीं पर खेला गया था और वही रहस्य यहाँ के निवासियों के हृदयों में प्रतिध्वनित हो रहा था। अतएव, उनकी रुचि और भक्ति

उस भाव और उस कला की ओर विशेष रूप से झुक गई। जो सज्जन इस रस के काव्य को, शृंगार-रस से संयुक्त होने के कारण भोग-विलासिता का प्रतिबिम्ब समझते हैं, वे भगवद्भक्तों की शृंगारमय उपासना तथा उनके भाव की पवित्रता की ओर सम्यक् ध्यान नहीं देते। देखिए, भारतवर्ष में व्यासजी के सदृश कोई सम्यक् दृष्टिवान् और महाकवि नहीं हुआ; और यह बात भी प्रसिद्ध है कि उनके काव्य में भागवत का स्थान सबसे ऊँचा है। श्रीमद्भागवत में "रासपंचाध्यायी" दूध में मक्खन के तुल्य है। भक्त लोगों का हृदय उसे पढ़ अथवा सुनकर आज भी गद्गद हो जाता है। ऐसे महर्षि के भक्त-मनोहारी और रोमांचकारी काव्य को व्यभिचार और भोगविलासिता का प्रतिपादक और प्रचारक समझना केवल दृष्टि-दोष और ज्ञान-दोष ही है। इन्हीं महात्मा के काव्य का स्तब्ध स्रोत, अनुकूल समय पाने पर, ब्रजभूमि में पुनः प्रवाहित हो गया। इस काव्य को नवीन काव्य और इस भाव को नवीन भाव कहना भूल है। यह तो उसी वंशी का प्रतिनाद है जिसको व्यासजी शब्दों और वाक्यों में भरकर, भारतीयों के शोक और सन्ताप के नाश के लिए छोड़ गये थे। ब्रजभूमि तो पूर्णकला-प्रवीण मुरली-मनोहर की रंगस्थली ही थी, उसका कहना ही क्या। वंग और बिहार में जयदेव, विद्यापति ठाकुर और चण्डीदास भी इस भाव से उन्मत्त होकर तन्मय हो गये थे। उनके गीतों और पदों को श्रीचैतन्य महाप्रभु, नेत्रों में आँसू भर भरकर, गाते थे। भारतवासियों को जब तक अपने आत्मीयत्व का स्मरण रहेगा वे इन कवियों और इनके काव्यों का मान और अभिमान करते रहेंगे। किसी को यह काव्य बुरा और दुराचार-युक्त भले ही देख पड़े, पर भक्तों को तो यह प्राणों से भी प्यारा है। कविवर बिहारीलाल भी इसकी गवाही देते हैं—

ब्रजवासिन को उचित धन, सो धन रुचित न कोय।
सुचित न आयो सुचितई, कहो कहाँ ते होय॥

हिन्दी के माध्यमिक काव्य तथा ब्रजभाषा के काव्य पर विचार करते समय इस पर भी दृष्टि रखनी चाहिए कि इस स्रोत का मूल वैष्णव भगवद्भक्ति में है, राजसभाओं में नहीं। यह काव्य न तो भाट और चारणों की सृष्टि है और न "भोगविलासिता" की उपज। वास्तव में ब्रजभाषा का काव्य ब्रजकिशोर, राधारमण, नटवर, श्रीकृष्णचन्द्रजी की लीलाओं से स्फुरित हुआ है। इनकी लीलाओं में जो वैचित्र्य है वह ब्रजभाषा के काव्य में थोड़ा बहुत प्रतिबिम्बित है। अतः जिस प्रकार कृष्णलीलाओं पर विचार किया जाता है उसी प्रकार इन कवियों के भावों पर भी विचार होना चाहिए। दूसरी बात यह है कि ब्रजभाषा के काव्य पर श्रीमद्भागवत और वेदव्यास का बहुत प्रभाव पड़ा है। अतएव इस ग्रन्थ के प्रकाश में उस पर विचार करना ऐतिहासिक दृष्टि से न्यायसंगत होगा। भागवत के दशम् स्कंध में लौकिकता और अलौकिकता दोनों विद्यमान् हैं। वही बात भाषा-काव्य में भी है। इसलिए उसको केवल एक दृष्टि या एक ही भाव से देखना अपर्य्याप्त और अपूर्ण होगा। यह भी न भूलना चाहिए कि इस काल की भाषा में गद्य का अभाव था। प्रत्येक मनुष्य चाहे वह वास्तविक कवि हो या न हो, अपने भले-बुरे विचारों को छन्दोबद्ध करने को बाध्य था। कवित्व एक ईश्वर-दत्त शक्ति है जो हर एक व्यक्ति में नहीं पाई जाती, और काव्य में भावोद्घाटन करना सर्वसाधारण के सामर्थ्य के बाहर है। अतएव काव्य पर समालोचना करते समय रँगे और गढ़े कवियों को उसके अन्तर्गत कर लेना कूड़ा-करकट काव्य समझना होगा। काव्य का स्थान ऊँचा है। उसको दूषित करने से ऊटपटाँग समालोचना होने की सर्वदा आशंका है। उस पर विचार करते समय देख लेना चाहिए कि किस वास्तविक कवि की कहाँ तक पहुँच है और काव्य की उत्ताल-तरल-तरंग-माला किस शिखर तक कब पहुँची।

इन विचारों पर दृष्टि रखते हुए यदि हिन्दी-काव्य की आलोचना की जाय तो स्पष्ट ज्ञात हो जायगा कि उसमें न तो शृंगार काव्य की इतनी अकथनीय अधिकता है और न शृंगार रस ही इतना बुरा है कि उससे भय उत्पन्न होने की शंका हो। यदि प्रेम और शृंगार रस को आप निकाल दें तो क्या काव्य की सरसता उतनी रह सकती है। और क्या ऐसा करना हिन्दी के माध्यमिक साहित्य को निर्जीव करने के सदृश नहीं? मनुष्य के हृदय में प्रेम के सदृश कोई भाव नहीं और साधारण मनुष्य के लिए सौन्दर्य से बढ़कर कोई उपासना नहीं। यह प्रेम, स्वार्थ और कुत्सित विचारों से दूषित होकर, कुपात्र द्वारा भयानक और राक्षसी भाव ग्रहण कर लेता है। परन्तु ऐसी अवस्था में उसे 'प्रेम' न कह कर 'विषयवासना' कहना ठीक होगा।

यह तो हुई केवल साधारण और सांसारिक दृष्टि,

पर यदि आप इसे कृष्णभक्त की दृष्टि से देखें तो परकीया आदि नायिकायें गोपों की प्रेम मदमाती गोपिकायें हैं। श्रीकृष्णजी ने इनके साथ रासक्रीड़ा की। अतः कवियों ने भी अपनी कीर्तन-शैली के अन्तर्गत इस विषय को कर लिया। इस पर राजा परीक्षित ने शंका की। तब श्री शुकदेव ने कहा—

यत्पादपंकजपरागनिषेवतृप्ता
योगप्रभावविधुताखिलकर्मबन्धाः।
स्वैरं चरन्ति मुनयोऽपि न नह्यमाना-
स्तस्येच्छयाऽऽत्तवपुषः कुत एव बन्धः!

यह विषय अलौकिक है। इसको अछूता रखना साहित्य-सेवियों का परम धर्म है। हिन्दी के कवियों ने अपने काव्य के नायक और नायिका को प्रायः स्पष्ट बतला दिया है और इस पर भी यदि कोई अपने दृष्टिदोष से अन्यथा समझे तो इसमें उनका क्या दोष है। देखिए न—

सत्य रसायन कविन को श्री राधाहरि सेव।

× × ×

माया देवी नाम का नायक पुरुष आपु।
सबै दम्पतिन में प्रकट देव करै तेहि जापु॥
वरणि नायका-नायकनि रच्यो ग्रन्थ **मतिराम**।
लीला राधारमण की सुन्दर यश अभिराम॥

× × ×

या अनुरागी चित्त की गति जानत नहिं कोय।
ज्यों ज्यों बूड़ै श्याम रँग त्यों त्यों उज्ज्वल होय॥
तजि तीरथ हरि राधिका,तनु दुति कर अनुराग।
जेहि ब्रज केलि निकुंज मग पग पग होत प्रयाग॥
बिहारी

इस प्रकार के अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं, परन्तु हमारे कथन के लिए यही पर्याप्त हैं। तो भी इस अलौकिक प्रेम की टिप्पणी में परकीया ऐसी नायिका का प्रेम-विषयक सवैया सुनकर फिर आगे चलिए—

क्यों इन आँखिन सो निरसंक ह्वै
मोहन को तन पानिय कीजै।
नेकु निहारे कलंक लगै इहि
गाँव बसे कहु कैसक जीजै॥
होत रहे मन यों **मतिराम**
कहूँ बन जाय बड़ो तप कीजै
ह्वै बनमाल हिये लगिए अरु
ह्वै मुरली अधरारस पीजै॥

अब दूसरा प्रश्न यह है कि इस काव्य का प्रभाव सर्व-साधारण के हृदय पर कैसा पड़ा? इससे क्या हानि हुई? हम सुनते-सुनते थक गये कि इस काव्य का प्रभाव युवकों पर बुरा पड़ा। परन्तु हमें इसकी पुष्टि के लिए अभी तक कोई प्रमाण नहीं मिला। इस काव्य से हमारे सामाजिक जीवन में कौन-सी बुराई उत्पन्न हो गई? हमारी समझ में इससे कोई हानि-विशेष नहीं हुई। हाँ, इससे ब्रजभाषा के काव्य में मधुरता और सरसता अधिक बढ़ गई, जिससे उसका और कृष्ण-भक्ति का प्रचार खूब हुआ। शृंगार-रस हिन्दी-साहित्य का कलंक नहीं, वह तो उसका शिरो-भूषण है।

इस लेख को और अधिक बढ़ाना अनावश्यक है। इतने पर भी यदि प्रेम और शृंगार के रस और मर्म में किसी को सन्देह रह गया हो तो हम उसकी सेवा में वही उत्तर देते हैं जो कि टाँय टाँय करनेवाले उद्धव को ब्रज-वनिताओं ने दिया था—

मति अति आपकी अबल अबला सी लगै,
सागर-सनेह कहो कैसे पार पावेगी?
खोलिये न जीह अस लीजिए न नाम इत,
बलदेव ब्रजराज जू की सुधि आवेगी॥
सुनतहि प्रलय-पयोधि माँहि एक ऐसी
कहर करनहारी लहर सिधावेगी।
राधे-दृग-सलिल-प्रवाह माँहि आज ऊधो,
रावरे समेत ज्ञान-गाथा बहि जावेगी॥

१९२०

❀ ❀ ❀

मुद्राराक्षस के रचयिता का लक्ष्य

पं० देवीदत्त शुक्ल

मुद्राराक्षस पढ़ने से उसके प्रणेता विशाखदत्त की प्रतिभा का जो चित्र पाठकों की आँखों के सामने खिंच जाता है उसकी छटा का वर्णन करना सहज नहीं। नाटक के क्षेत्र में विशाखदत्त को हम ऐसे मार्ग पर चलते हुए पाते हैं जिस पर सम्भवतः हमारे संस्कृत-साहित्य के किसी अन्य नाटककार ने अपना पैर नहीं रक्खा। न तो वे 'शाकुन्तल' की ओर दृष्टिपात करते हैं और न 'उत्तरराम-चरित' से ही उनकी कुछ सहानुभूति है। उनकी रचना का आदर्श बिलकुल नया और सबसे निराला है।

विशाखदत्त बारहवीं सदी के अन्तिम भाग के कवि हैं। उस समय का भारत अनेक छोटे-छोटे राज्यों में बँट गया था। प्रत्येक राज्य का राजा स्वतन्त्र था और अपने पड़ोसी राजा से प्रायः युद्ध ठाने रहता था। देश में एक छोर से लेकर दूसरे छोर तक कलह की आग धाँय धाँय जल रही थी। उधर देश के पश्चिम ओर मुसलमान आक्रमणकारी धीरे-धीरे अग्रसर हो रहे थे और देश के पारस्परिक अनैक्य से लाभ उठाने की घात में थे। ऐसी विपन्नावस्था में फँसे हुए देश के लिए एक ऐसी महती शक्ति की आवश्यकता थी जो अपनी प्रतिपत्ति से राष्ट्र की बिखरी हुई शक्ति को एक धारा में बहाकर उसे डूबने से बचावे। अतएव यह काम विशाखदत्त जैसे प्रतिभावान् कवि का ही था जो राष्ट्र के सामने कोई ऐसा आदर्श उपस्थित करे कि जिससे उसकी रक्षा हो।

मुद्राराक्षस पढ़ने से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि कवि का क्या लक्ष्य था। उसने अपनी पैनी दृष्टि से देश की दुरवस्था देखकर कवित्व के भावोद्रेक में राष्ट्र के सामने मौर्यराज चन्द्रगुप्त के समय के भारत से भव्य चित्र का उद्घाटन किया। यही नहीं, किन्तु इसके साथ ही उसने तत्कालीन राजनैतिक पटुता के दिव्य रूप का दर्शन भी अपने समय के राजनीतिज्ञों को करा दिया। परन्तु देश के दुर्भाग्य से विशाखदत्त की क़द्र न हुई। देश के तत्कालीन नेताओं को उसकी सूझ न सूझी। कवि ने मुद्राराक्षस में जिस भव्य आदर्श को चित्रित करके राष्ट्र के आगे रक्खा था वह कूड़ा-करकट समझा गया। कवि के मनो-राज्य की कल्पना का फूल वहीं पड़ा-पड़ा कुम्हलाता रहा जहाँ कि वह विकसित हुआ था।

देश का भविष्य अन्धकारमय देखकर, उसे उस दशा से बचाने के लिए, विशाखदत्त ने न तो राम के गीत गाये हैं और न कृष्ण ही के। चूँकि देश के ऊपर उस समय संकट के भयंकर बादल घोर गर्जन कर रहे थे; अतएव उन्हें अपने भूतकालीन इतिहास से एक ऐसे आदर्श को खोज निकालने की आवश्यकता प्रतीत हुई जिसको देश का कोई मनस्वी अपना लक्ष्य बनाकर आये हुए संकट से उसकी रक्षा करे। अपने नाटक में विशाखदत्त ने जिस सच्ची ऐतिहासिक घटना को स्थान दिया है देश में उसकी पुनरावृत्ति होने की परमावश्यकता थी। वह सच्ची घटना वह षड्यंत्र था जिसे मौर्यराज चन्द्रगुप्त का साम्राज्य संस्थापन करने के लिये, राजनीति-विशारद विष्णुशर्मा चाणक्य ने मन्त्रि-प्रवर राक्षस को अपने वशवर्ती के करने के लिए रचा था।

यही मुद्राराक्षस का प्रधान नाट्य विषय है। विशाखदत्त ने अपने नाटक में पूर्वोक्त षड्यन्त्र को अंकित करके यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि मौर्य-वंश के एक मात्र शत्रु अमात्य राक्षस को अपनी ओर करने के लिए चन्द्रगुप्त और चाणक्य ने किस प्रकार के षड्यन्त्र की रचना की थी और ऐसा करके उसने देश को एक घोर घरेलू संग्राम में परिणत होने से किस प्रकार बाल-बाल बचा लिया था। इस एक साधारण सी बात पर सरसरी निगाह डालने से हम मुद्राराक्षस के लिखे जाने के वास्तविक उद्देश को तब तक नहीं समझ सकेंगे जब तक हम देश की तत्कालीन ऐतिहासिक स्थिति को एक बार अपने ध्यान में न लावेंगे।

जिस समय इस षड्यन्त्र की रचना का सूत्रपात हुआ था उस समय पाटलिपुत्र पर चन्द्रगुप्त का पूर्ण अधिकार हो चुका था। उसके सारे प्रतिद्वन्द्वी या तो मारे जा चुके थे या मगध परित्याग करके भाग खड़े हुए थे। एक-मात्र स्वामि-भक्त मन्त्रि-प्रवर राक्षस ऐसा था जो चन्द्रगुप्त का सिंहासन पर आसीन होना न्याय-संगत न मानता

था। अतएव उसका विरोध करने को अग्रसर दिखाई देता था। वह इस प्रयत्न में संलग्न था कि चन्द्रगुप्त मगध के सिंहासन से उतार दिया जाय। अपने इस उद्देश की सिद्धि के लिए वह मगध-राज्य के सीमावर्ती तथा दूसरे राजाओं को अपनी राजनीति-पटुता से पाटलि- पुत्र पर चढ़ा लाया था और एक प्रकार से उसे घेर भी लिया था। विलम्ब था तो केवल धावा बोल देने भर का। ऐसी दशा में, विपक्ष की ओर से किसी भाँति की सामरिक गति का परिलक्षित न होना साधारण रहस्य की बात नहीं समझी जा सकती। शत्रु तो एक ओर राजधानी को घेरे पड़ा हो और दूसरी ओर अवरुद्ध दल जरा भी चीं-चपड़ न करे! राजनैतिक धैर्य की पराकाष्ठा हो गयी।

जिस चन्द्रगुप्त ने बलपूर्वक पाटलिपुत्र पर अपना अधिकार जमाया था और राक्षस देखता ही रह गया था वह, युद्ध के लिए ललकारे जाने पर भी उससे विरत क्यों हुआ था? इसका कारण यह था कि उस समय, भारत की सीमा पर, यूनानी आक्रमणकारी लोग अपनी सामरिक गति-विधि पुनः प्रकट कर रहे थे। उसकी प्रतिक्रिया के कारण इधर देश में अलग ही गड़बड़ मची हुई थी। यदि वह घरेलू युद्ध में फँसता है तो एक ओर देश का संहार होता है और दूसरी ओर देश में विदेशियों की जड़ जम जाने की स्पष्ट सम्भावना है। अस्तु, ऐसी दशा में, चन्द्रगुप्त और चाणक्य जैसे कुटिल राजनीतिज्ञ घरेलू युद्ध में क्योंकर फँस सकते थे। उस समय इस बात की आवश्यकता थी कि सारे राष्ट्र की शक्ति विदेशी आक्रमणकारियों को देश से बाहर खदेड़ भगाने के कार्य में लगाई जाय। अतएव आत्मरक्षा का पूरा-पूरा प्रबन्ध कर के चाणक्य ने राक्षस के सहायकों में भेद-नीति का प्रयोग किया और इस तरह उसने एक तीर से दो निशाने मार गिराये। षड्यन्त्र का प्रयोजन भी यही था। राक्षस के सहायकों में फूट पैदा हो गयी। वे सब के सब या तो राक्षस का साथ छोड़कर अपने-अपने देशों को वापस चले गये या चाणक्य के कौशल से चन्द्रगुप्त के बन्दी हुए। इस तरह अपने पक्ष को निर्बल होते देख और अपने परिवार की रक्षा के लिए प्रियमित्र चन्दनदास को शूली पर चढ़ाये जाने का समाचार पाकर राक्षस का भी उत्साह भंग हो गया। मित्र की रक्षा का निश्चय करके वह शूली-स्थान पर जा पहुँचा और राज-कर्म्मचारियों को आत्मसमर्पण कर दिया।

इस तरह कौशल से, बिनायुद्ध किये, चाणक्य ने घरेलू युद्ध की बला ही नहीं टाल दी, किन्तु एक ऐसे नर-रत्न को अपने हाथ में कर लिया जिसके मन्त्रित्व-काल में मगध का राज्य इतना गौरव-पूर्ण हो चुका था जिसका नाम सुनकर सिकन्दर जैसे दिग्विजयी की हिम्मत उस ओर आँख उठाकर ताकने तक की नहीं हुई। सब प्रकार का वैर-भाव दूर करके चाणक्य ने राक्षस से चन्द्रगुप्त का मेल करा दिया, जिसका परिणाम यह हुआ कि यूनानी आक्रमणकारी युद्ध में हराये जाकर देश से खदेड़ बाहर ही नहीं किये गये, किन्तु उनके राज्य का बहुत-सा अंश भी छीन लिया गया यौर भारत में मौर्यों का सर्वश्रेष्ठ साम्राज्य संस्थापित हो सका।

मुद्राराक्षस की रचना करके विशाखदत्त ने अपने समय के राजपुरुषों को यह उपदेश किया है कि उनमें से कोई साहसी व्यक्ति, पारस्परिक भेद-भावों को भूलकर और मौर्यराज चन्द्रगुप्त का अनुकरण कर के देश में एक विशाल साम्राज्य का संगठन करे और मुसलमान आक्रमणकारियों को भी देश की सीमा से मार भगावे।

इस प्रकार के आदर्श को, और ऐसे उपयुक्त समय में, अपने नाटक में अंकित करके विशाखदत्त ने अपनी प्रतिभा की अनोखी छटा दिखाई है। जब हमारा ध्यान कवि के नाटक रचने के उद्देश की ओर जाता है तब यही कहना पड़ता है कि विशाखदत्त अपनी कोटि के पहले कवि हैं और सर्वश्रेष्ठ कवि हैं। अफसोस, कवि के संकेत की ओर उस समय और बाद को भी, किसी ने ध्यान नहीं दिया। देश चौपट हो गया, पर फूट न हटी।

१९२०

मौलिक ग्रन्थ और अनुवाद

पं० लल्लीप्रसाद पाण्डेय

देश में नये युग का आविर्भाव हो रहा है। हमारी सभी चीजों पर इसका प्रभाव परिलक्षित हो रहा है। साहित्य पर भी इसका असर पड़ा है। हिन्दी में कई प्रकाशकों ने अपना कार्य-क्षेत्र बढ़ाया है। कई लोग अपना पुराना व्यवसाय छोड़कर इस काम में जुट गये हैं। दो एक के कार्य सफलता प्राप्त करने योग्य जँचते हैं। लेखक और कवि भी, बड़ी शीघ्रता से, साहित्य की वृद्धि करने पर उद्यत हैं। दिन पर दिन नये-नये पत्रों का जन्म होता है और उनमें कुछ ऐसे भी हैं जिनके जीवित रहने की आशा के कारण हैं।

नवीन साहित्य जागृति का चिह्न है, क्योंकि उससे मौलिकता प्रकट होती है। हिन्दी-साहित्य का यह शुभ लक्षण है कि उसमें नवीन साहित्य का निर्माण हो रहा है। पर इन साहित्य-सेवियों में ऐसे ही लोग अधिक हैं जो और भाषाओं में प्रकाशित लेखों या पुस्तकों का अनुवाद कर देते हैं, या उनके आधार पर लिख लिखा देते हैं। इधर जनता को ऐसे लेखों और किस्से-कहानियों से सन्तोष नहीं होता। वह चाहती है बिलकुल मौलिक लेख, कविता और आख्यायिका आदि। पर हिन्दी में इतने मौलिक लेखक मिलें कहाँ से। अतएव नाक-भौं सिकोड़कर अनुवाद-ग्रन्थों से ही उसे संतोष करना पड़ता है, तथापि मौलिकता की प्रबल माँग जारी है।

मौलिक ग्रन्थ, लेख या कविता लिखना सबका काम नहीं। उसके लिए लेखन-पटुता चाहिए; अध्ययन चाहिए और सबसे अधिक चाहिए प्रतिभा। किन्तु सब प्रयासियों में ये गुण नहीं होते। किसी में कुछ कमी है, किसी में कुछ। और मौलिक लेखकों की कमी कुछ हिन्दी में ही नहीं है, सभी जगह है। अधिकता है, अनुवादकों और आधार पर लिखनेवालों की ही। फिर यह भी तो निश्चित नहीं कि जितने लेखक मौलिक लेख लिखते हैं वे सभी उत्तम ही लिखते हों। अतएव ऐसे मौलिक लेखों का आदर न होने से वे लेखक भी अनुवाद ही करने लग जाते हैं। मौलिक लेख तो संसार में हर साल बहुत ही थोड़े लिखे जाते हैं। और संसार में ऐसे हैं ही कितने मस्तिष्क जो मौलिक लेख लिख कर संसार का उपकार किया करते हों? यह तो परमेश्वर का प्रसाद है, जिसे प्राप्त हो गया हो गया। इन्हीं इने-गिने मस्तिष्कों की उपज से संसार के साधारण लेखक भाव ग्रहण करके, अपनी अपनी भाषाओं में, लेख आदि लिखते हैं। पर इस बात को बहुत थोड़े लोग जानते हैं कि अमुक लेख किस लेखक के सूत्र की व्याख्या है। जनता तो उसे अपने उसी प्रिय लेखक की समुद्भाविनी प्रतिभा का फल मानती है। माना करे, जो बात सच है, सदा सच रहेगी। अन्तर इतना ही है कि एक के विचार पढ़कर दूसरे के मन में उसीसे मिलती-जुलती बातों की स्फूर्ति होती है। तीसरा लेखक मूल लेखक की बातों में कुछ और नमक-मिर्च मिलाकर लिख देता है और सबसे गया-बीता लेखक जरा सा अदल-बदल कर ज्यों का त्यों रख देता है।

इसके बाद अनुवादकों का नम्बर है। दूसरे के विचारों को वे अपनी भाषा में व्यक्त कर देते हैं। बस, इससे जियादह वे कुछ नहीं कर सकते। पर अनुवाद करना भी सबका काम नहीं। मूल लेखक के भाव को ठीक ठीक न समझ सकने के कारण कोई-कोई अनुवादक कुछ का कुछ लिख देते हैं। कुछ अनुवादक ऐसा अनुवाद करते हैं कि उसे समझने के लिए मूल लेख या ग्रन्थ पढ़ने की जरूरत होती है। इसका कारण यह है कि अनुवादक स्वयं नहीं जानता कि मूल लेखक का मतलब क्या है। भाव समझने में असमर्थ होकर वह प्रत्येक शब्द का अनुवाद-मात्र कर देता है। ऐसा करने से उसके लिखे वाक्य ऊलजलूल और कभी-कभी निरर्थक हो जाते हैं। अनुवाद में भाव प्रधान है। अनुवाद ऐसा होना चाहिए जिससे पढ़नेवाले की समझ में मूल लेखक का भाव आसानी से आ जाय। यह आवश्यक नहीं कि मूल के प्रत्येक शब्द का अनुवाद अवश्य ही रहे। इसके लिए अनुवादक मनमाने शब्दों का प्रयोग कर सकता है। उसे और सब अधिकार है। वह सिर्फ भाव को बदल डालने का अधिकारी नहीं। जो अनुवादक इस काम में अभ्यस्त है वही यथार्थ अनुवादक है।

दूसरी भाषाओं के लेखों और पुस्तकों का अपनी भाषा में अनुवाद न किया जाय तो साहित्य की बहुत हानि

हो। क्योंकि सभी लोग मौलिक लेख लिख नहीं सकते; और दूसरी भाषाओं में जो अच्छी-अच्छी बातें मौजूद हैं वे अनुवाद या आधार के बिना हमारी भाषा में न आवें तो हमें उनका ज्ञान ही न हो। हमारी दशा कूप-मण्डूक की सी हो जाय। मौलिक ग्रन्थ यदि सूर्य हैं तो अनुवाद-ग्रन्थ दीपक हैं, जो अंशतः सूर्य का ही काम देते हैं। और अनुवाद होता किस भाषा में नहीं है? मराठी, उर्दू और बँगला की बात जाने दीजिए। अंगरेजी का साहित्य बहुत उच्च माना जाता है, पर यदि उसकी तलाशी ली जाय तो उसमें भी अनुवादित ग्रन्थों की ही संख्या अधिक निकलेगी। अंगरेजी में अनुवाद-ग्रन्थों की प्रचुरता होने पर भी मौलिक ग्रन्थ भी उसमें लिखे ही जाते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि जिन्हें आरम्भ से ही अनुवाद करने की लत पड़ जाती है वे प्रायः मौलिकता खो बैठते हैं। उनका मस्तिष्क रेल की पटरी की तरह एक आधार चाहता है। अपने लिए वह आप मार्ग प्रस्तुत नहीं करता। और यदि पटरी छोड़कर चलता है तो पग-पग पर झिझकता है। डरता है कि अब गिरे और बड़ी मुश्किल से अपने उद्देश के समीप तक पहुँच सकता है। किन्तु यह कोई निश्चित बात नहीं कि यदि वह अनुवादक न बन जाता तो मौलिकता उसमें जरूर ही होती। बहुत सम्भव है, अनुवादक की हैसियत से उसने जितनी साहित्य-सेवा की होगी उतनी भी मौलिकता के फेर में पड़ने पर उसके हाथ से न होती। उसका कार्यक्षेत्र ही बदल जाता। ऐसी दशा में उसका काम उन लोगों को करना पड़ता जो मौलिकता के लिए विश्रुत हैं। दूसरे, मौलिकता का आदर होने लगे और अनुवाद का आदर एक सीमा के भीतर रहे तो जिनमें जैसी योग्यता है वे उसी ओर को उन्नीत हो जावें। परन्तु मौलिकता के नाम पर कोरा ढोल पीटने और कार्यतः कुछ न करने से उस ओर लोगों की प्रवृति नहीं हो सकती। इसके सिवा चतुर मनुष्य के किये हुए अनुवाद में भी बहुत कुछ मौलिकता आ जाती है। अनुवादक-अनुवादक में अन्तर होता है। ऐसे भी उदाहरण विद्यमान हैं कि कुछ लोग अनुवाद करते-करते मौलिक लेख लिखने में भी पटु हो गये। अनुवाद का काम तो बड़े-बड़ों ने किया है। अँगरेजी भाषा में डाक्टर जान्सन का बड़ा नाम है। उन्होंने भी कुछ पुस्तकों का अनुवाद किया है। फ्रांस के प्रसिद्ध कवि वालटेर ने भी अनुवाद का काम किया है। पोप ने तो होमर के काव्यों का अनुवाद करके धन और यश दोनों ही प्राप्त किये।

सभी देशों के साहित्य में एक बार परिवर्तन काल आता है। यह उसी समय होता है जब किसी समाज पर किसी भिन्न जाति की सभ्यता का प्रभाव पड़ता है। जातियों के पारस्परिक मेल-जोल से नये-नये भावों की सृष्टि होती है। उन भावों को एक जाति दूसरी जाति से ग्रहण करके अपना लेती है। इसी समय अनुवाद ग्रन्थों की आवश्यकता पड़ती है। जब ग्रीस और भारत का सम्मिलन हुआ, जब मुसलमानों के साथ हिन्दुओं का मेल हुआ अथवा मुगलों ने भारत के साथ अपना सम्बन्ध स्थापित किया, तब अनुवादकों के द्वारा ही एक ने दूसरे से ज्ञान ग्रहण किया। साहित्य में अनुवादों का स्थान स्थायी नहीं है, पर इसमें सन्देह नहीं कि उनसे साहित्य में कुछ नवीन विषय चिरकाल के लिए आ जाते हैं। हिन्दू-ज्योतिष शास्त्र पर यूनान के सिद्धान्तों का जो प्रभाव आज लक्षित हो रहा है उसके लिए कितने अनुवाद हुए होंगे, यह कौन कह सकता है।

१९२०

❀ ❀ ❀

गुजरात प्रान्त के हिन्दी-कवि

श्री भवानीशंकर याज्ञिक

हिन्दी आजकल भारत के अधिकांश विद्वानों में सर्वमान्य प्रमाणित हो चुकी है। तो भी अन्य प्रान्तों में उसका अधिक मान नहीं है। तथापि दो शताब्दी पूर्व उत्तर भारत के सभी प्रान्तों में आजकल की अपेक्षा उसका कहीं अधिक आदर था। पंजाब, गुजरात, मध्य-प्रदेश, बिहार आदि सभी देशों में हिन्दी का अधिक प्रचार था, पंजाब प्रान्त में चौहानराज पृथ्वीराज के सुप्रसिद्ध चारण या राजकवि चन्द बरदाई तथा सिक्ख-

संप्रदाय के स्थापक गुरु नानक और गुरु गोविन्दसिंह आदि हिन्दी के प्रतिभाशाली कवि हो गये हैं। वीरभूमि राजपूताना में महाराना कुम्भा तथा राठोरराज मारवाड़ाधिपति महाराजा जसवन्तसिंह आदि अनेक कवियों ने हिन्दी की सेवा की है। मध्य भारत में महाकवि केशवदास, रीवाँ-नरेश रघुराजसिंह, छत्रप्रकाश के रचयिता कविवर लाल आदि अनेक कवि हुए हैं। बिहार प्रान्त में भी महामहोपाध्याय विद्यापति ठाकुर तथा अन्य कवियों ने हिन्दी में काव्य-रचना की है। गुजरात भी हिन्दी-साहित्य की वृद्धि में किसी प्रान्त से पीछे नहीं रहा। वहाँ भी अनेक कवि हो गये हैं जिन्होंने राष्ट्रभाषा हिन्दी-साहित्य को काव्य-रसों से श्रीसम्पन्न किया है।

गुजरात-प्रान्त ने आशातीत हिन्दी-कवि उत्पन्न किये हैं। इस प्रान्त की स्थिति दूरतम पश्चिम में है, जहाँ हिन्दी का प्रचार होना सुगम नहीं। दूसरे, यहाँ मुसलमानों तथा मरहठों के निरन्तर आक्रमणों के कारण अशान्ति ही रही। अशान्ति में काव्य-रचना नहीं होती। कविता तो शान्ति की चिर-सहचरी है। इसके सिवा उस प्रान्त में कवियों के आश्रयदाता बड़े बड़े महाराजा तथा जागीरदार नहीं हुए। कवि अपनी जीविका के लिए सर्वदा आश्रयदाता की खोज में रहता है। यदि उसे कोई ऐसा आश्रय नहीं मिला जिससे उसका निर्वाह हो तो उदर-भरण ही की चिन्ता में लगकर उसकी शक्ति क्षीण हो जाती है। अन्य प्रान्तों में हिन्दी के कवियों को राजा-महाराजाओं द्वारा उचित आश्रय मिलता था। यदि जयपुर-नरेश महाराज जयसिंह ने बिहारी को, महाराष्ट्र-वीर-केशरी शिवाजी ने भूषण को, जगत्सिंह ने पद्माकर को, अकबर ने गंग, बीरबल, नरहरि, तानसेन आदि लगभग २० कवियों को, और, और अनेक जागीरदारों ने अन्य कवियों को उचित आश्रय न दिया होता तो हम इन महाकवियों का कौशल न देख पाते। अन्य प्रान्तों में तो यह रीति थी कि सभी श्रीमानों के आश्रय में कोई न कोई कवि रहता था, पर गुजरात में यह सब कहाँ? फिर संवत् १७४० के लगभग गुजराती भाषा की उन्नति होने लगी और हिन्दी का ह्रास। गुजराती भाषा के प्रसिद्ध कवि प्रेमानन्द तथा उनके अनेक शिष्यों ने गुजराती भाषा का उद्धार करके उसकी उन्नति में तन, मन, धन सभी कुछ लगा दिया। हिन्दी-कविता के प्रचार में इन बाधाओं के होते हुए भी गुजरात प्रान्त ने हिन्दी की वह सेवा की है जो अन्य भिन्न भाषा-भाषी प्रान्तों से किसी प्रकार कम तो क्या, कुछ अधिक ही है। यह आश्चर्य की बात नहीं कि गुजरात में हिन्दी के थोड़े कवि हुए हैं, परन्तु यह अवश्य आश्चर्यजनक है कि ऐसे समय में भी इतने कवियों ने हिन्दी भाषा में काव्य-रचना की।

अब प्रश्न यह है कि गुजरात-प्रान्त ने हिन्दी भाषा को क्यों अपनाया। इस प्रश्न का उत्तर देना यद्यपि कुछ कठिन है तो भी गुजराती-साहित्य तथा गुजरात-प्रान्त के धार्मिक इतिहास द्वारा कुछ कारण बताए जा सकते हैं। सबसे पहला कारण यह था कि विक्रम-संवत् की पन्द्रहवीं शताब्दी के पूर्व गुजराती भाषा केवल बोलचाल की भाषा थी। वह इतनी परिपक्व न थी कि उसके द्वारा कवि अपने हार्दिक भाव जनता के सम्मुख प्रकट कर सके। गुजराती भाषा का पहला कवि जूनागढ़वासी भक्त नरसी मेहता का कविता-काल संवत् १५१२ के लगभग है। इसके पूर्व प्रायः सभी शिक्षित पुरुष संस्कृत अथवा हिन्दी ही पढ़ते थे। गुजराती भाषा के जन्म के पूर्व ही महाकवि चन्द, जल्हन, विद्यापति, कबीर, गोरखनाथ, रामानन्द आदि कवियों ने हिन्दी की इतनी उन्नति कर दी थी कि उसमें प्रत्येक भाव, विशेषतः धार्मिक और आध्यात्मिक सुगमता से वर्णित हो सकता था। तब यदि गुजरात-प्रान्त वासी अपनी अपरिपक्व भाषा को त्याग एक उन्नत तथा भावमयी भाषा को अपनायें तो इसमें आश्चर्य ही क्या है। दूसरा मुख्य कारण यह है कि गुजरात-प्रान्त में वैष्णव धर्म की मुख्य शाखा वल्लभ-सम्प्रदाय की अधिक प्रबलता है। इस सम्प्रदाय के प्रवर्तक गोस्वामी श्री वल्लभाचार्यजी थे। उन्होंने और उनके पुत्र गोस्वामी श्री विट्ठलनाथजी ने वल्लभ-सम्प्रदाय के प्रचारार्थ हिन्दी का ही आश्रय लिया। वल्लभ-सम्प्रदाय का प्रायः समस्त साहित्य व्रज-भाषा में है। गो० वल्लभाचार्यजी के चार शिष्य तथा गो० विट्ठलनाथजी के चार शिष्य—ये आठों शिष्य व्रजभाषा के धार्मिक साहित्य के स्तम्भ हैं। यही अष्टछाप के नाम से प्रसिद्ध हैं और गुजरात-प्रान्त में इनका अब तक मान है। इस प्रकार गुजरात में वैष्णव धर्म के प्रचार के साथ-साथ हिन्दी का भी प्रचार हो गया। गुजरातियों के धर्मग्रन्थ हिन्दी में ही में होने के कारण हिन्दी से उनका पूर्ण प्रेम हुआ। इसका फल यह हुआ कि हिन्दी-साहित्य को गौरवान्वित करने

वाले दयाराम, मुक्तानन्द, ब्रह्मानन्द जैसे धार्मिक कवि उस प्रान्त में हुए।

नरसी मेहता के पहले भी हिन्दी के कोई कवि हुए थे कि नहीं, इसका पता नहीं चलता। सम्भव है हुए हों। यथार्थतः गुजरात में हिन्दी का अभ्युदय संवत् १७०० के लगभग हुआ। उस समय ऐसे अनेक कवि हुए जिन्होंने गुजराती तथा हिन्दी दोनों भाषाओं में कवितायें लिखीं। गुजराती-साहित्य पर हिन्दी का बहुत प्रभाव पड़ा है। इसमें सन्देह नहीं कि यदि गुजराती पर व्रजभाषा का प्रभाव न पड़ता तो आज उसका कुछ दूसरा ही रूप होता। रविदास पटेल के आश्रित श्यामल भट्ट ने तो तुलसीकृत रामायण देखकर गुजराती में भी दोहे, चौपाई आदि व्रजभाषा के छन्दों में काव्य-रचना की है। उसकी कविता में भी व्रजभाषा के अनेक शब्दों का समावेश है। संवत् १७४० के लगभग प्रेमानन्द ने अपने ३५ से अधिक शिष्यों द्वारा हिन्दी के प्रति अश्रद्धा दिखाते हुए वर्तमान गुजराती-साहित्य की उन्नति करवाई। उसके बाद हिन्दी का ह्रास ही होता गया। तो भी काठियावाड़ में हिन्दी के प्रेमी अधिक थे। इस कारण वहाँ अनेक कवि हुए। कुछ कवियों ने हिन्दी को धार्मिक भाषा समझकर उसमें कविता करने की चेष्टा की। संवत् १९४० से तो गुजरात-वासियों ने हिन्दी की ओर से प्रायः बिलकुल ही मन हटा लिया।

प्रारम्भिक काल, संवत् १४४४ विक्रमी

इस काल में प्राकृत से अनेक रूपों में परिवर्तित होकर हिन्दी-भाषा का विकास हुआ। यह हिन्दी का बाल्यकाल है। गुजरात प्रान्त में इस काल में एक भी हिन्दी-कवि नहीं हुआ। इसका मुख्य कारण यह प्रतीत होता है कि हिन्दी-भाषा तब बाल्यावस्था में थी। यह इतनी परिपक्व न हुई थी कि इसका प्रचार गुजरात जैसे दूरवर्ती प्रदेश में हो सके। तत्कालीन गुजराती कवियों ने जो कुछ लिखा वह संस्कृत अथवा अपभ्रंश भाषा में ही लिखा। प्राकृत भाषा का अन्तिम वैयाकरण हेमचन्द्र सूरि गुजरात का ही था। उसने संवत् ११५४ में जन्म लिया और गुर्जरराज सिद्धराज जयसिंह की आज्ञा से "सिद्धहेम शब्दानुसान" नामक व्याकरण की रचना की।

माध्यमिक काल, संवत् १४४४-१६८०

वैसे तो इस काल में हिन्दी की बड़ी उन्नति हुई, परन्तु गुजरात में जितने कवि हुए उनकी संख्या संतोषजनक नहीं। इसका मुख्य कारण यह प्रतीत होता है कि उस समय गुजरात में अशान्ति फैली हुई थी। इस काल में गुजराती भाषा के भी मुख्य पाँच ही कवि हुए, जिनमें से तीन तो केवल नाम-मात्र के ही कवि हैं। शेष दो कवियों ने हिन्दी में भी कविता की है। अन्य प्रान्तों में तो हिन्दी की बड़ी उन्नति हुई है। इतने कम समय में किसी अन्य भाषा की वैसी उन्नति होना संभव नहीं। कबीर, सूरदास, तुलसीदास, नन्ददास आदि अनेक कवियों ने अपनी कविता द्वारा समस्त उत्तरी भारत में एक अपूर्व धार्मिक स्रोत बहा दिया। परन्तु गुजरात में अराजकता तथा अशान्ति का साम्राज्य था इसी लिए वहाँ अच्छे कवि नहीं हुए।

वह समय शैव-मत के ह्रास तथा वैष्णव धर्म की उत्तरोत्तर वृद्धि का था। ईश्वर-प्राप्ति के लिए वैष्णव धर्म का मुख्य साधन भक्ति है। अतएव माध्यमिक काल में भक्त कवि हुए हैं। वैष्णव धर्म की सभी शाखाओं ने कविता द्वारा ही अपना मत फैलाया। इसलिए वैष्णव धर्म के साथ साथ कविता की भी अच्छी उन्नति हुई। गुजरात-प्रान्त में उस समय हिन्दी में केवल तीन कवि हुए। उनकी कविता का ढंग निराला ही है। उन्होंने गुजराती तथा हिन्दी दोनों भाषाओं में कविता की है। एक ने तो हिन्दी की अपेक्षा गुजराती में अधिक और शेष दोनों ने गुजराती की अपेक्षा हिन्दी में अधिक काव्य-रचना की है।

नरसी मेहता, १४७०-१५३१ विक्रमी संवत्

ये नागर जाति के कुलीन ब्राह्मण थे। इनका निवास-स्थान जूनागढ़ था। इनके कुटुम्बी शैव होने के कारण वैष्णव धर्म के विरोधी थे। नरसी मेहता की माता वैष्णव धर्मावलंबिनी थीं जिससे इन्हें भी कुछ कुछ वैष्णव धर्म का ज्ञान हो गया। एक बार अपनी भाभी से अपमानित होकर इन्होंने घर-द्वार त्याग दिया और साधु-संगति में रह कर कृष्ण के पूर्ण भक्त हो गए। इनके साथी नीच जाति के हिन्दू थे। अतएव इनके कुटुम्बियों ने इन्हें जाति-भ्रष्ट कर दिया और एक जाति-भोज में सम्मिलित न होने दिया। इस पर इनके नीच जातीय अन्य साथियों ने नागर ब्राह्मणों पर आक्रमण करके नरसी मेहता को जाति में पुनः लेने के लिए लोगों को बाध्य किया।

ये गुजराती-साहित्य के जन्मदाता कहे जाते हैं। गुजराती में इन्होंने हारमाला, रासलीला तथा अन्य फुटकर पद तथा सामलदास का विवाह नामक काव्य की रचना

की है। इनकी भाषा शुद्ध हिन्दी नहीं। इसका कारण यह है कि ये अन्य प्रान्त के थे। फिर उस समय हिन्दी का कोई स्थिर रूप भी न था। इनको हिन्दी का कवि मानने में किसी किसी को सन्देह हो सकता है। परन्तु ये हिन्दी के कवि माने ही जाते हैं। शिवसिंह सेंगर ने "शिवसिंह सरोज" में हिन्दी-कवियों में इनका नाम लिखा है। उसी के आधार पर मिश्रबन्धु-विनोद में भी इनका वर्णन है। १०० वर्ष पूर्व ही व्रज के भक्त कवियों ने इनको हिन्दी कवि माना है। संवत् १९०० के लगभग कृष्णानन्द व्यासदेव ने अपने "रागसागरोद्भव रागकल्पद्रुम" में मीराबाई, तानसेन, सूरदास, तुलसीदास, विट्ठलदास इत्यादि भक्त कवियों की कविताओं के संग्रह में इनकी कवितायें भी उद्धृत की हैं। इससे प्रतीत होता है कि ये हिन्दी के भी कवि थे। यह सच है कि इनका एक भी हिन्दी-पद उपलब्ध नहीं। "राग सागरोद्भव रागकल्पद्रुम" से उद्धृत जो पद शिवसिंह सरोज में है वह भी गुजराती में ही है तो भी इतना निस्सन्देह कहा जा सकता है कि इनकी कविता में प्राचीन हिन्दी की झलक अवश्य है।

मीराबाई

ये मेड़ता के राठोड़ रत्नसिंह की एकमात्र कन्या थीं। इनका विवाह संवत् १५७३ में चित्तौड़ के प्रसिद्ध सीसोदिया-कुलतिलक राजा संग्रामसिंह के पुत्र भोजराज से हुआ था। विवाह के बाद दस ही वर्ष में भोजराज की मृत्यु हो गई, जिससे मीराबाई को जन्मपर्यन्त वैधव्य भोगना पड़ा। परन्तु मीराबाई को इसकी कुछ चिन्ता न थी। उसने तो 'गिरधरनागर' से स्नेह-संबंध जोड़ लिया था। सदा साधु-सेवा में जीवन व्यतीत करने के लिए मीरा चित्तौड़ छोड़कर वृन्दाबन चली आई। वहाँ भी थोड़े दिन रह कर शेष जीवन द्वारका में व्यतीत किया। वहाँ वह साधु-सेवा में जीवन व्यतीत किया करती थीं तथा रातदिन "गिरधर गोपाल" के गुणगान में लीन रहती थीं। कहा जाता है कि मीरा के देवर राना विक्रमादित्य ने मीरा का चित्त साधु-सेवा से हटाने के लिए कई प्रयत्न किए। यहाँ तक कि विवश होकर विष का प्याला भेजा। किन्तु मीरा ने उसे अमृततुल्य समझकर पी लिया।

द्वारका में रहकर मीराबाई ने गुजराती तथा हिन्दी दोनों के साहित्य-क्षेत्र में अमृत वर्षा की है। उसकी कविता में भक्ति-रस का अपूर्व स्रोत बह गया है। गुजरात में नरसी मेहता और मीराबाई का बड़ा मान है। दोनों ने गुजराती-साहित्य को जन्म देकर अपना नाम अमर कर दिया है। मीराबाई का अधिकांश समय द्वारका में व्यतीत हुआ इसलिए गुजरात-प्रान्त के कवियों में ही इनकी गणना होती है। इनकी भाषा में गुजराती का मिश्रण भी अधिक है। नीचे इनका एक पद उद्धृत किया जाता है जिससे इनका अगाध प्रेम और हार्दिक भक्ति प्रकट होती है—

बसो मेरे नैंनन में नँदलाल।
मोहनी मूरत साँवरी सूरत नैना बने बिसाल।
अधर सुधारस मुरली राजत उर बैजन्ती माल॥
छुद्रघण्टिका कटितट-सोहत नूपुर शब्द रसाल।
मीरा प्रभु सन्तन सुखदाई भक्त बछल गोपाल॥

दादूदयाल

रामानुज-सम्प्रदाय की एक प्रधान शाखा दादूपन्थी के नाम से प्रसिद्ध है। उस शाखा के संस्थापक दादू दयाल ही थे। इनका जन्म दादूपंथियों के अनुसार संवत् १६०१ में हुआ था। कबीर के समान इनके भी जन्म के विषय में एक कथा प्रसिद्ध है। कहते हैं कि ये महात्मा लोदीराम नामक एक नागर ब्राह्मण को अहमदाबाद में साबरमती नदी में बहते हुए मिले थे। यह प्रसिद्ध है कि इनके गुरु कबीर के पुत्र कमाल थे। इनकी मृत्यु संवत् १६६० में हुई। ये बड़े दयालु तथा क्षमाशील थे। इसी कारण इनका नाम दादूदयाल पड़ा। इन्होंने लगभग समस्त राजपूताने में पर्यटन किया था।

इनकी कविता से इनके धार्मिक भाव अच्छी तरह प्रकट होते हैं। ये महात्मा हिन्दू-मुसलमानों में भेद न मानते थे, तथा मूर्ति-पूजा, अनेकेश्वरवाद आदि के कट्टर विरोधी थे। कबीर के समान इन्होंने, ज्ञान-मार्ग का प्रचार करने के लिए, दोहे, साखी इत्यादि लिखे हैं। परन्तु कबीर में और दादूदयाल में इतना भेद है कि इन्होंने किसी मत का खंडन नहीं किया। हाँ, विवेकपूर्ण शब्दों में इन्होंने निर्भय होकर अपने मत का प्रतिपादन किया है। कबीर के समान इनकी कविता में छन्दोभंग की अत्यन्त भरमार है, किन्तु भाव की उत्कृष्टता तथा सत्योक्ति में ये किसी से हीन नहीं। बहुत से दोहों में तो इन्होंने कबीर को भी नीचा दिखाया है। इन्होंने पंजाबी, गुजराती आदि अन्य भाषाओं में भी कविता की है। इनकी भाषा कबीर के समान सरल है, परन्तु शब्दों में यथेष्ट परिवर्तन किया गया है। इनकी

कविता से पता चलता है कि ये राम के भक्त थे परन्तु ये राम नरतनुधारी, अयोध्यापति, महाराजा दशरथ के पुत्र नहीं—निराकार, निराधार, निर्लेप, सर्वज्ञ, व्यापक, परब्रह्म हैं, जिनका सम्बोधन 'रोम रोम में रमि रहा' होने के कारण दादू ने राम-नाम से किया है।

अपादान तथा करण कारक की विभक्ति 'से' के स्थान में 'थे', 'कभी' के स्थान में 'कदी', 'अपना' के स्थान में 'आपणा', 'न' कार के स्थान में 'ण' कार आदि का प्रयोग गुजराती तथा राजस्थानी भाषा के अनुसार दादू ने कई स्थानों पर किया है। इतना होने पर भी हिन्दी की झलक उनके पदों के प्रत्येक चरण में प्रत्यक्ष है। इनकी कविता में गूढ़ोक्ति, यथार्थोक्ति, लोकोक्ति, उपमा, उत्प्रेक्षा आदि अनेक अलंकारों की अच्छी छटा है। उदाहरणार्थ कुछ दोहे लीजिए—

काया कठिन कमान है, खींचे बिरला कोय।
मारे पाँचो मिरगला दादू सूरा सोय॥
दादू मन मरतक भया इन्द्रिय अपने हाथ।
तो भी कदी न कीजिए कनक कामिनी साथ॥
घीव दूध में रमि रहा व्यापक सब ही ठौर।
दादू बकता बहुत है मथि काढ़े ते और॥
मिसरी माँहि मेल कर माल बिकाना बंस।
यों दादू महँगा भया पारब्रह्म मिलि हंस॥
मैं ही मेरे पोटसर मरिये ताके भार।
बलिहारी गुरु आपकी सिर थें धरी उतार॥

अलंकृत-काल, संवत् १६८०-१८८०

इस दो सौ वर्ष के काल में हिन्दी की उत्तरोत्तर उन्नति होती गई। परन्तु कविता का प्रवाह धर्म की ओर न बहकर शृंगार-रस की ओर बहा। इस शृंगार-रस-प्रधान कविता के आचार्य रसिक-प्रिया, कवि-प्रिया रामचन्द्रिका आदि के प्रणेता ओड़छे के महाकवि केशवदासजी थे। इस काल में महाकवि सेनापति, महाराज जसवन्तसिंह, मतिराम, बिहारी, सूदन, भूषण, देव, दास, पद्माकर और कई उत्कृष्ट कवि हुए हैं। प्रायः सभी ने शृंगार-रस-प्रधान काव्यों की रचना की है। तो भी इस समय गुजरात-प्रान्त में शृंगार-विषयक कविता का प्रचार नहीं हुआ। केवल दयाराम ने, राधा-कृष्ण की आड़ में, कुछ शृंगार-विषयक दोहे लिखे हैं। किन्तु वे सर्वपाठ्य नहीं हैं। गुजरात में तो शृंगार के स्थान में भक्ति, ज्ञान, उपदेश, राजनीति, लोकनीति, सदाचार, पिंगल आदि विषयों पर ही कविता रची गई है। ठीक इसी समय गुजराती-साहित्य को गौरवान्वित करनेवाले प्रेमानन्द, श्यामल भट्ट, वल्लभ, कालिदास, प्रीतम, रेवाशंकर, मुक्तानन्द, ब्रह्मानन्द, दयाराम आदि प्रथम श्रेणी के अनेक कवि हुए। गुजराती भाषा के इन कवियों में से अनेकों ने हिन्दी में भी कविता की है। किन्तु हिन्दी-साहित्य-सेवियों की अनभिज्ञता के कारण उनका लोप हो रहा है। गुजरात के हिन्दी-कवियों की भाषा में बहुत कुछ सुधार हुआ है और प्रायः सभी कवियों ने शुद्ध ब्रजभाषा का प्रयोग किया है।

रघुराम

इस कवि का वर्णन शिवसिंह-सरोज तथा मिश्रबन्धु-विनोद दोनों में है। ये अहमदाबाद के निवासी थे। इन्होंने सं० १७०१ में सभासार और माधवविलास—दो ग्रन्थ बनाए हैं। माधवविलास हिन्दी-साहित्य के प्राचीन नाटकों में से है।

केवलराम

वे केशवराम नागर के पुत्र थे और अहमदाबाद में संवत् १७५६ में उत्पन्न हुए थे। ये जूनागढ़ के नवाब के, जो बाबी कहलाते थे, आश्रय में रहते थे।

इनकी कविता विशुद्ध ब्रजभाषा में है। उदाहरणार्थ दिल्ली के नवाब फखरुद्दीन को परास्त करनेवाले बाबी नवाब जवाँमर्दखाँ की प्रशंसा में कहा गया कवित्त नीचे लीजिए :—

गजबी गरूर गाज दिल्ली ते दलन साज,
लूटिबे के काज पन्थ गुज्जर को लीनो है।
बूँदी को बिडारी मारी हाड़ा गाढ़ा जोरन कें,
और राव राजा ताके बाँह बल छीनो है।
प्रबल पठानन सों भिर्‌यो रन जीतबे को,
भारत सो कीन्हो जुद्ध बीर रस भीनो है।
नवल नवाब जवाँमर्दखाँ बहादुर ने
फकरू नवाब को फकीर करि दीनो है।

दलपति राय तथा बंशीधर

ये दोनों कवि अहमदाबाद के निवासी थे। इन दोनों ने मिलकर पिंगलशास्त्र का एक अपूर्व ग्रन्थ बनाया है। दलपतिराय जाति के महाजन थे और बंशीधर श्रीमाली ब्राह्मण। उन्होंने अपना परिचय इस प्रकार दिया है—

मेदपाट श्रीमाल कुल विप्र महाजन काह।
वासी अमदाबाद के बंसी दलपतिराय॥

इन्होंने संवत् १७९८ में अलंकार रत्नाकर नामक ग्रंथ बनाया। यह जोधपुर नरेश महाराजा जसवन्तसिंह कृत भाषा-भूषण की सर्वोत्तम टीका है। इन दोनों कवियों ने बड़े प्रयास से सब अलंकारों को अच्छी तरह समझाने के लिए यह ग्रन्थ गद्य में लिखा है। उदाहरण के लिए हिन्दी के उत्तमोत्तम ४४ कवियों की चुनी हुई सरस रचनायें दी हैं। इस संग्रह में हिन्दी-साहित्य के इतिहास के लिए बहुमूल्य सामग्री है।

इनकी कविता विशुद्ध ब्रजभाषा में है। उदाहरण के लिए दो दोहे उद्धृत किए जाते हैं—

रहे सदा विकसित विमल धरे वास मृदुमञ्जु।
उपज्यो नहि पर पंक सों प्यारी तव मुख कञ्ज॥
भौंहें कुटिल कमान-सी सरसे पैने नैन।
वेधत ब्रज अबलान हिय बंसीधर दिन रैन॥

जसुराम

ये राजनीति-विशारद थे। गुजरात-प्रान्त के अन्तर्गत भड़ोंच जिले के आमोद नामक ग्राम के निवासी थे। इन्होंने संवत् १८१४ में राजनीति नामक ग्रंथ लिखा है जिसके विशद वर्णन से इनका पूर्ण पाण्डित्य तथा काव्य-चातुर्य झलकता है। इन्होंने पौराणिक आख्यायिकाओं से उदाहरण लेकर अपने भावों को पूर्णतया पुष्ट किया है। इन्होंने भी विशुद्ध ब्रजभाषा में कविता लिखी है। उसमें गुजराती भाषा की झलक लेश-मात्र भी नहीं। इन्होंने कहीं कहीं लोकोक्तियाँ भी बहुत अच्छी कही हैं यथा—राज के वजीरन कों सबै लोक जसूराम तमोली के पान ज्यों सँवारबोई चाहिए—राजनीति राज के वजीरन कूं जसूराम गुड़ ही ते मरे ताकू विषते न मारिये—पूत ही के लच्छन सुपालने पहचानिये। नीचे इनकी कुछ कवितायें उद्धृत की जाती हैं—

चातक दादुर मोर छिति, सदा निबाहत नेह।
नृप ऐसे चाहिये जसू जैसे चहिए मेह॥
जो दीजे परधान पद, तो कीजे इतबार।
जो इतबार न होइ जसु तो परधान निवार॥

कल्याण

कविवर कल्याण वैष्णव धर्मानुयायियों के प्रसिद्ध तीर्थस्थल डाकोरजी के सन्त थे। ये पूर्ण सन्त थे और अभी तक इनका अखाड़ा डाकोरजी में प्रख्यात है। इनका कविता-काल लगभग संवत् १८४५ है। इनकी कविता में आध्यात्मिक ज्ञान तथा नीति का समावेश है और भाषा है विशुद्ध हिन्दी। उदाहरणार्थ एक घनाक्षरी तथा एक कुण्डलिया लीजिए—

जीवन अपार जाकी जाति को न आवे थाह,
किये कोष भांति भांति रत्नों की ढेरी है।
सम्पति के सागर जगत में कल्यान कहे,
औरन को दीजिए बड़ाई सब तेरी है।
अंग अंग पूरन तरंगन ते छाप रह्यो,
सोहे चन्द तात एक बात घट घेरी है।
बाट के बटाऊ प्यासे पूंछे तीर कूप कहाँ,
अहो क्षीर सागर बड़ाई धिक तेरी है।

पाजी पाजी झूंठ तज लोलप लोल स्वभाव।
हिन्दूपति सो मर गए नाना माधवराव॥
नाना माधवराव मुये जयसिंह सवाई।
मिरजा मुनिब नवाब मोत तिन कूं भी आई।
कहत दास कल्यान भयो काया में राजी।
भज भज श्री भगवान झूठ तज पाजी बाजी॥

मुक्तानन्द

ये गुजराती-साहित्य के उच्चकोटि के कवि हैं। गुजरात में इनके धार्मिक विचारों तथा इनकी कविताओं का विशेष आदर है। किन्तु इनकी हिन्दी-कविता गुजराती की अपेक्षा शिथिल है। ये महात्मा गढ़वा के निवासी और स्वामी नारायण-सम्प्रदाय के प्रभावशाली साधु थे। इन्होंने वृन्द के समान दोहे के उत्तरपाद में अच्छे अच्छे दृष्टान्त दिए हैं। इनकी भाषा विशुद्ध ब्रजभाषा है। उदाहरणार्थ एक सवैया तथा दो दोहे नीचे हैं:—

चन्द से शीतल रूप अनंग से देव गजानन से जग जाने।
सिद्धि शिरोमणि गोरख से कविराजहु काव्य रचे सुख साने॥
शूर जरासँध रावण से रिपु जीति के देश सबै घर आने।
ऐसो भयो तो कहा मुक्तानँद जो कारण रूप श्रीकृष्ण न जाने॥

मुक्त मनुज तन पाय के हरि उर धारत नाँहि।
वृथा श्वास तिह धमन सम मृतकतुल्य जग माँहि॥
मुक्त मनुज तन पाय के जीभ न हरि गुण गात।
सो दादुर की जीभ सम वृथा बकत दिन-रात॥

दयाराम

दयाराम गुजराती भाषा के प्रथम श्रेणी के प्रतिभाशाली कवि हो गए हैं। हिन्दी में भी इनकी कविता उच्चकोटि की है, इसमें सन्देह नहीं। हिन्दी-भाषा में इन्होंने सतसई, वस्तुवृन्द-दीपिका, वृन्दावन-विलास तथा फुटकर पद आदि बनाये हैं। इस कविकुल-भूषण ने अपना परिचय सतसई के अन्त में दिया है, जिससे ज्ञात होता है कि ये नर्मदा के तट पर चण्डीपुर नामक ग्राम के निवासी थे। ये साठोदरा नागर ब्राह्मण थे। संवत् १८७२ में इनका जन्म हुआ था। ये कृष्ण के पूर्ण भक्त थे। इनके ग्रंथों में सतसई सर्वोत्तम है। यह सतसई बिहारी-सतसई के बनने के १५० वर्ष बाद बनी है। दयाराम को बिहारी के समान उत्कृष्ट तथा प्रतिभाशाली कवि कहना धृष्टता है। परन्तु इनके कुछ दोहे बिहारी की जोड़ के ही नहीं, किन्तु सरसता और भाव की गंभीरता में बढ़कर भी हैं। इसमें सन्देह नहीं कि कवित्व-शक्ति में बिहारी का पद इनसे ऊँचा है। तो भी दयाराम भक्ति-रस-विषयक कविता तथा चित्रालंकार युक्त नीति-वैराग्य के कुछ दोहों में बिहारी से बाजी मार ले गये हैं। सतसई के कुछ अच्छे अच्छे दोहे यहाँ उद्धृत किए जाते हैं—

चाहूँ बसाये हृदय में धरूँ त्रिभंगी ध्यान।
ताते राख्यो कुटिल उर होइ असी सों म्यान॥

मो उर में निज प्रेम अस परिवह अचलित देहु।
जैसे लोटन दीप सो सरक न ढुरक सनेहु॥

पीताम्बर परिधान प्रभु राधा नील निचोल।
अंग रंग सँग परस्पर यो सब हारद तोल॥

मुकुर मुकुर सब वस्तु भइ नयन अयन किय लाल।
दृग पसार जित जित अली तित तित लखु गोपाल॥

ललना लोचन सित असित गोलक डारे लाल
यह त्रिवेनि मञ्जन लही मुक्ति विरह गोपाल॥

इन उदाहरणों से ज्ञात होता है कि सतसई की भाषा कितनी मधुर है।

ब्रह्मानन्द

इनका यथार्थ नाम लाड़ था। ये आबू पर्वत की तलहटी में खानगाँव के निवासी थे। संसार से विरक्त होकर इन्होंने अपनी जीविका छोड़ दी और काठियावाड़ चले गये। पहले अपना नाम श्रीरंग रक्खा। परन्तु फिर उसे बदलकर ब्रह्मानन्द नाम धारण किया। इन्होंने स्वामी सहजानन्द को अपना गुरु बनाया जैसा कि इन्होंने एक स्थान में कहा है—

संसार विघन सब मेटि के पार किया भव फन्द से।
कह ब्रह्मानन्द ममता टरी सद्गुरु सहजानन्द से॥

ये स्वामी नारायण-सम्प्रदाय के प्रसिद्ध पंडित हो गये हैं। इन्होंने गुजराती में भी कविता की है। इनका कविता-काल संवत् १८७५ के लगभग माना जाता है। इन्होंने अपनी कविता में कंठीधारण, मूर्तिपूजा आदि वैष्णवधर्म के साधनों को निरर्थक कहकर कबीर के समान ज्ञान-मार्ग का प्रतिपादन बड़े कौशल से किया है। इनकी कविता में छन्दोभंग भी है परन्तु भाव उत्कृष्ट है। इनकी कविता में कहीं कहीं गुजराती शब्दों का समावेश है, जिससे ब्रज-भाषा के सहज माधुर्य्य में कर्कशता आ जाती है। इनकी कविता के भी कुछ उदाहरण लीजिए—

मिलहि भूमि को राज साज सुख सम्पति नाना।
मिलहि सर्ग सुरलोक प्रबल अमृत को पाना।
मिलत इन्द्र अधिकार मिलत क्रम करि पद विधि को।
अष्ट सिद्धि पुनि मिलत मिलत संग्रह नवनिधि को॥
सुत भ्रात तात बनिता मिले खूब खजाना नंग है।
कहे ब्रह्म मुनी सब ही मिले इक दुर्लभ सत्संग है।

हरिदास

ये रामानुज-सम्प्रदाय के सन्त काठियावाड़ के अन्तर्गत खादड़पुर के वासी थे। इन्होंने संवत् १८८१ के लगभग शुद्ध ब्रजभाषा में हरिविलास नामक एक ग्रंथ बनाया जिसमें इनके काव्य-चातुर्य की अपूर्व झलक दिखाई देती है। उदाहरणार्थ—

चंचल इन्द्रपुरी सुख पाय के अन्त की बेर महा सुख पाऊँ,
जौ सुख में दुख चौगुन होत है सो सुख के हूँ नजीक न जाऊँ।
दाना चुगाय के पंख मरोड़त ऐसे चुगे पर मैं न रिझाऊँ,
कहि हरिदास सुनो सब सज्जन ना गुड़ खाऊँ न कान बिधाऊँ॥

वर्तमान काल, संवत् १८६०

इस काल में हिन्दी ने नया रूप धारण किया। क्रमशः शृंगार वेश को त्यागकर नवीन वेष धारण किया। परन्तु गुजरात-प्रान्त में अलंकृत काल की अपेक्षा इस काल में शृंगार-रस-प्रधान कविता का कुछ प्रचार हुआ। कवियों

ने अपनी प्रान्तीय भाषा पर विशेष ध्यान दिया। इस काल में हिन्दी-कवि गुजराती-कवियों के समान प्रतिभासम्पन्न नहीं हुए।—आदित्य राम तथा गोविन्द गीलाभाई—ये दोनों हिन्दी-भाषा के उत्कृष्ट कवि हैं। इस काल में गुजरात-प्रान्त में व्रजभाषा का ही प्रचार हुआ।

केसरी सिंह

ये ध्रोल के निवासी, भूपसिंहजी के पुत्र थे। इनका कविता-काल संवत् १९२५ के लगभग था। अपने पिता की मृत्यु के पश्चात् पालीताने में अपने मामा के यहाँ रहने लगे। कविता इनकी बहुत अच्छी है। इन्होंने कई विषयों पर विशुद्ध व्रजभाषा में कविता की है—

चम्पक चमेली अस केतकी कनैर जुही
ताके बान साज के उमंग सरसायो है
दाउदी के तुर्रा अस मुकुट हजारा किये
हेगल हमेल इष्कपेचा मन भायो है।
केहरी कहत सब फूलन को सिंगार साज
मकर को ध्वज सो तो केवरा बनायो है।
शैल के करन काज साज के समाज ऐसे
मानो ऋतुराज रतिराज बनि आयो है।

आदित्यराम

इन्होंने अपनी कविता में अपना नाम रविराम भी रक्खा है। ये जामनगर (काठियावाड़) के प्रश्नोरा नागर ब्राह्मण थे। ये संगीत विद्या और वाद्य विद्या में बड़े निपुण थे। ये अनुप्रास के बड़े प्रेमी थे। पद्माकर के समान इनकी कविता में भी अनुप्रास की अधिकता है। पर उससे कविता शिथिल नहीं हुई है। कहीं कहीं तो वह बड़ी सरस हो गई है। भक्ति और नीति पर ही इन्होंने कविता की है।

गान तान मान युत नाचे नट वेस धरे
कामनी बसीकरन देख्यो महाफन्द में,
करत विलास रास हास सुख सम्पति सों
जमुना के तीर धीर धर न अनन्द में।
कहत ऊदीत राम सूझत न कछू काम
धाम धनि धरा धन माने दुख दन्द में।
श्री मदन मोहन की माधुरी सु मूरत पै
मोह्यो मन मेरो ज्यों मिलिन्द मकरन्द में।
तन तरुनाई आई जा दिन ते थक्यो भाई
तरुनी तमासे ताईं और तुक तान में।
कछू ना बिचार करे नेकहू न धीर धरे
भरे भव भोगि भाँति भाँति न अमान में,
रविराम रस नाते राम कहे कस नाते
कपट कुटिलता ते काहू की न कान में।
ए रे मन मेरो महा मोह माहि मत माचै
ममता मनाय मदमातो मरे मान में।

गोविन्द गीलाभाई

इनका जन्म भावनगर-राज्यान्तर्गत सिहोर में संवत् १९०५ में हुआ था। इनके पिता का नाम गीलाभाई था। ये चौहानवंशी राजपूत थे। इनका हिन्दी-प्रेम प्रशंसनीय है। इन्होंने गुजराती तथा हिन्दी दोनों भाषाओं में अच्छी कविता लिखी है। वर्तमान काल के गुजरात-प्रान्त में हिन्दी-हतैषियों में ये अग्रगण्य हैं।

इन्होंने अपने राधामुखषोडसी नामक ग्रन्थ में अपना परिचय इस भाँति दिया है—

कोंधत कमन देश काठियासुवाड़ता में
सुन्दर सिहोरपुर पुनीत विख्यात है।
कुटुम्ब कलित वा में रहत सदाय हम
ज्ञाति के खवास खास विश्व में विभात है॥
विक्रम संवत् वार, उन्नीस पचास मधि
उर में उमंग धारि नेह ते नितान्त हैं।
गोविन्द सुकवि रची राधामुख षोडशी
ये रसिक रिझायबे को अच्छी अवदात है।

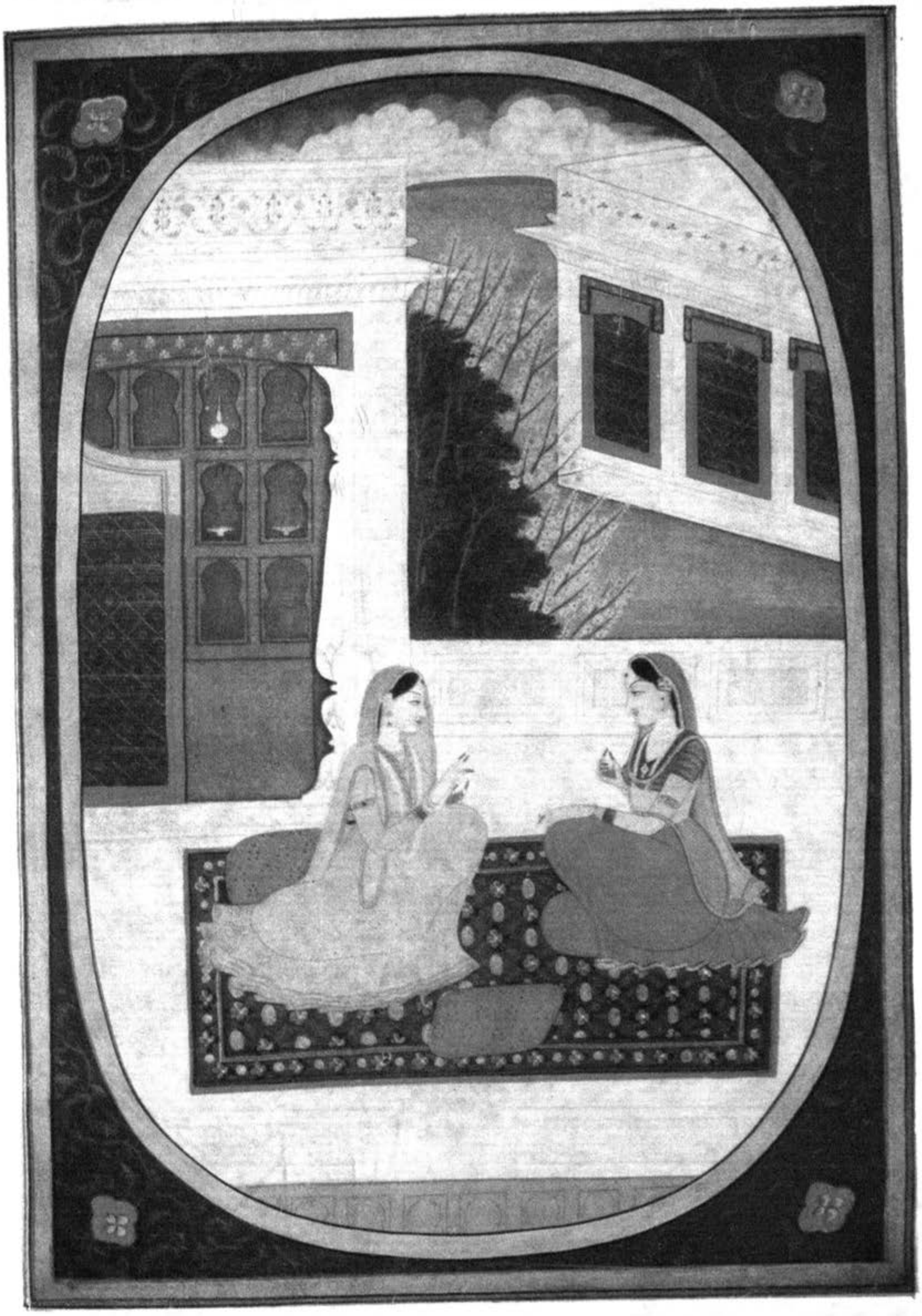
इन्होंने अनेक पद्य-ग्रन्थ बनाये हैं जिनसे ज्ञात होता है कि ये काव्यशास्त्र के पूर्ण पण्डित थे। इनकी कविता में विशुद्ध व्रजभाषा प्रयुक्त हुई है। उसमें गुजराती का थोड़ा भी मिश्रण नहीं है।

इन्होंने संस्कृत श्लोकों के भाव लेकर कविता-रचना की है—उदाहरणार्थ एक कवित्त दिया जाता है—

इतर पापफलानि यथेच्छया वितरतानि स हे चतुरानन
अरसिकेषु कवित्तनिवेदनं शिरसि मा लिख मा लिख॥

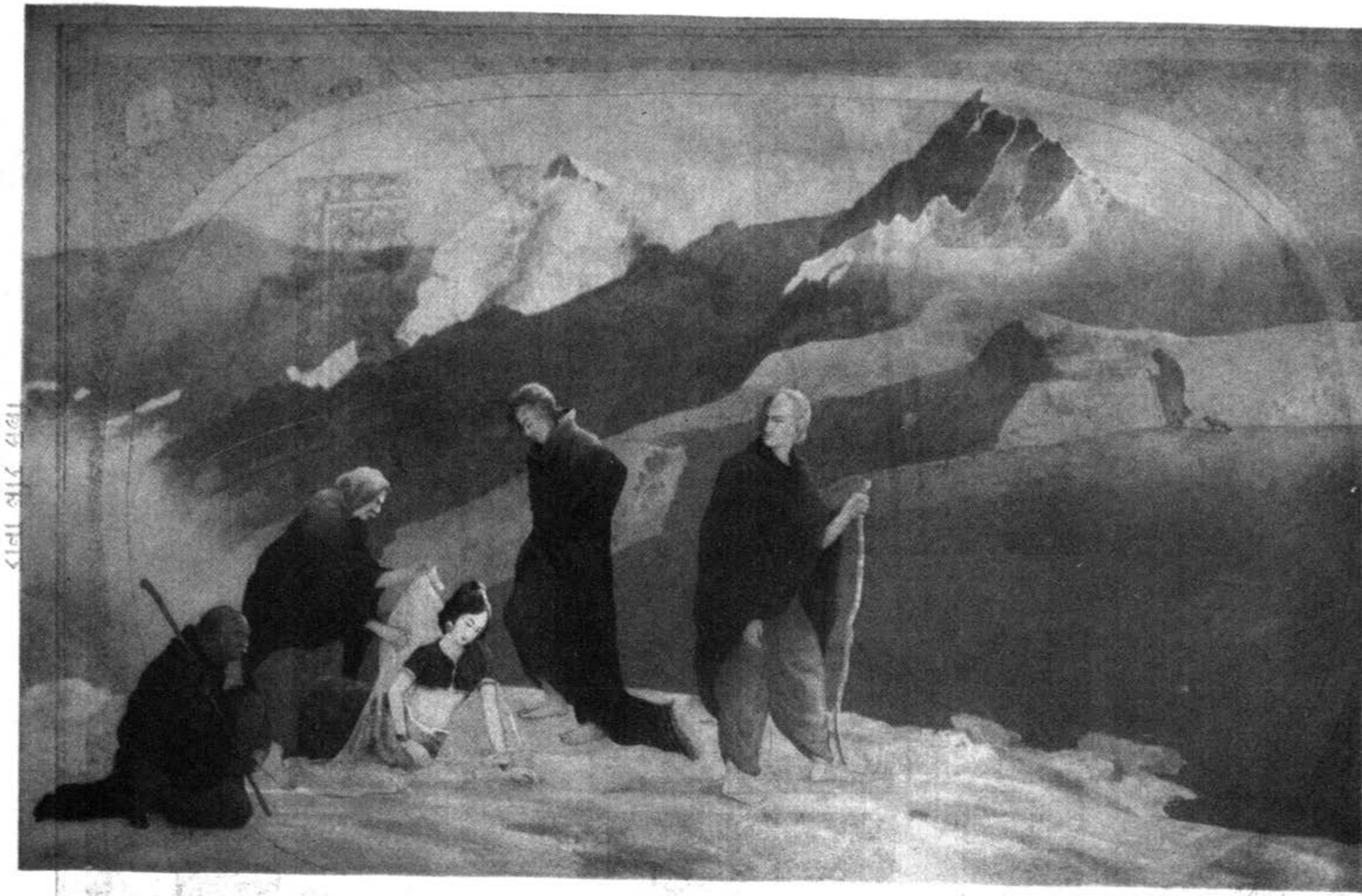
(अनुवाद)

सुनिये चतुर विधि अरज हमारी एक
आपको उमंग धारि चाहत कहन को।
पूरब के पाप पुण्य जोय जमें होयँ मेरे
देहु फल ताके दिल चाहे सो सहन को॥



राधा और सखी
(प्राचीन चित्र)

[१९५५.



पांडवों का महाप्रस्थान
(चित्रकार—अजमत शाह)

चाहे तो दरिद्र और कीजिये धनेश पुनि
चाहे तो बल सो बैर बपु में बहन को।
गोविन्द सुकवि पर लिखियो लिलार नाँहि
नीरस नरन पास कविता कहन को।।

इनकी कविता बड़ी प्रासादिक है। नीचे कुछ उदाहरण दिए जाते हैं—

अंगन पै गजखाल नहीं यह अंबर नील हमारो विशाल है;
मुण्डन की नाँहि माल गले महँ हाटकहार हमेल रसाल है।
शीश जटा कवि गोविंद ये नाँहि ओपत सो अति धम्मिल जाल है,
रे रतिनाथ सम्हारि के मारियो, ईस नहीं हम कोमल बाल हैं।
है न जटा यह बार बिराजत नील न ग्रीव में मुष्क लगाये।
शीशन चन्द्रकला यह गोविंद पुष्पप्रभा बिलसे सुखदाये।
अंग विभूति नहीं सितता यह नाथ वियोगन ते तन लाये,
रे मनमथ्य महेश भ्रमे हम बाल कूँ मारन क्यों धसि आये।

यह है उन गुजराती कवियों का वर्णन जिन्होंने सुदूर गुजरात में रहकर हिन्दी-काव्य की सेवा की है।

१९२०

❀ ❀ ❀

मेघदूत में विज्ञान

पं० रामदहिन मिश्र, काव्यतीर्थ

यह वैज्ञानिक युग है। यहाँ विज्ञान की महत्ता का वर्णन करना अनावश्यक है। क्योंकि आजकल चारों ओर उसी की चर्चा है; सर्वत्र उसके कौशल दिखाई पड़ते हैं। हमारे भारतवर्ष में कभी विज्ञान की चर्चा थी या नहीं, इसका निर्णय करना कठिन है। आर्यसमाजियों ने वेदों से कई वैज्ञानिक बातें ढूंढ़ निकाली हैं। पण्डित भीमसेन शर्मा ने भी अपने पत्र द्वारा वैदिक काल की कई वैज्ञानिक बातें सुनाई हैं। पर उनकी बातों पर लोगों को विश्वास नहीं होता। वे कहते हैं कि यदि वेद में विज्ञान है तो पाश्चात्य विज्ञान का प्रसार होने के पहले इन लोगों ने वेदों से विज्ञान की प्राचीनता क्यों न सिद्ध की? खैर, मैं भी वही साहस करता हूँ। मैं दिखलाना चाहता हूँ कि मेघदूत ऐसे छोटे ग्रन्थ में भी अनेक वैज्ञानिक बातें हैं। मैं यह नहीं कहता कि जैसे सिद्धान्त पहले थे वैसे ही आज भी हैं और प्राचीन तथा नवीन प्रक्रियाएँ एक सी हैं। तो भी मैं इतना अवश्य कहूँगा कि विज्ञान की बातों को प्राचीनों ने पौराणिक रूप दे दिया है, पर उनमें वैज्ञानिक तथ्य अवश्य हैं।

मेघदूत के पाँचवें श्लोक में लिखा है "धूमज्योतिः सलिलमरुतां सन्निपातः क्व मेघः।" इस पद में मेघ बनने की प्रक्रिया है। अर्थात् मेघ धुआँ, तेज, जल और हवा के संयोग से बनता है। कैसे बनता है, इसके विशेष विवरण की यहाँ आवश्यकता नहीं। महाकवि की इस बात को आधुनिक वैज्ञानिक विद्वान् भी मानते हैं। सम्भव है कि वे इसे सर्वांश में न मानें, किन्तु अधिकांश में इससे अवश्य सहमत होंगे। हमारे प्राचीन ग्रन्थों में भी इसका वर्णन है। पहले अधिकाधिक यज्ञ होते रहने से समय समय पर वृष्टि अधिकता से होती थी। प्राचीन पुरुष यज्ञाभाव को वृष्ट्यभाव का कारण बतलाते हैं। मेघ के बनने में याज्ञिक धूम अर्थात् पवित्र पदार्थों का धुवाँ मेघ का साधक और विकृत पदार्थों का धुवाँ मेघ का बाधक है। मेघदूतोक्त बात की पुष्टि के लिए उपनिषदों और पुराणों के कुछ प्रमाण उद्धृत किये जाते हैं—

अग्नौ प्रास्ताहुतीः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते।
आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः।।
अन्नाद् भवन्ति भूतानि पर्ज्जन्यादन्नसम्भवः।
यज्ञाद् भवति पर्ज्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः।।
विवस्वानंशुभिस्तीक्ष्णैरादाय जगतो जलम्।
सोमे मुंचत्यथेन्दुश्च वायुना धीमयैर्यदि।।
नालैर्विक्षिपतेभ्रेषु धूमानलिनमूर्तिषु।
न भ्रश्यन्ति यतस्तेभ्यो जलान्यभ्राणि तान्यतः।।

अभ्रस्थाः प्रपतन्त्यापो वायुना समुदीरिताः।
संस्कारं कालजनितं मैत्रेयासाद्य निर्मलाः॥

श्री गोस्वामी तुलसीदासजी भी कहते हैं—

धूम-अनल-सम्भव सुनु भाई।
तेहि बुझाय घन पदवी पाई॥१॥
सोइ जल अनल-अनिल-संघाता।
होई जलद जग-जीवन-दाता॥२॥

× × ×

मेघदूत के पन्द्रहवें श्लोक में लिखा है—"वल्मीकाग्रात्प्रभवति धनुःखण्डमाखण्डलस्य"। अर्थात् वल्मीक से इन्द्र-धनुष का टुकड़ा उत्पन्न हो रहा है। इन्द्रधनुष सूर्य की किरणों के कारण बनता है। जब सूर्य पश्चिम में रहता है तब वह पूर्व की ओर उत्पन्न होता है और जब सूर्य पूर्व की ओर होता है तब वह पश्चिम की ओर दिखाई पड़ता है। वह तिरछी किरणों की प्रतिच्छाया है। दोपहर को वह नहीं दिखाई पड़ सकता और न बिना बादल और वृष्टि के ही वह उदित हो सकता है। उसमें सात प्रकार के रंग होते हैं।

इस पूर्वोक्त श्लोक-खण्ड का वल्मीक शब्द सन्दिग्ध है। वल्मीक शब्द के कई अर्थ हैं। इन अर्थों के आधार पर कई टीकाकारों ने कई प्रकार की बातें कही हैं। शब्दार्णव में वल्मीक शब्द का अर्थ लिखा है—बामलूर, अर्थात् बाँबी या दिव्य कॉंण (The top of ant-hill) और पर्वत की चोटी। "बामलूरे गिरेः शृङ्गे वल्मीकपदमिष्यते।" अन्यान्य कोषों में लिखा है—"वल्मीकः सातपो मेघः"। "वल्मीकः सूर्य्य इत्यपि।" श्री जगदीशकृत "शब्दशक्ति-प्रकाशिका" के अपादान-कारक प्रकरण में भी "वल्मीकः सातपो मेघः" लिखा है।

मल्लिनाथ बाँबी और आतपयुक्त मेघ से इन्द्रधनुष का होना लिखते हैं। सुबोधा और सारोद्धारिणी टीका में लिखा है—"इन्द्रचापं किल वल्मीकान्तर्व्यवस्थित-महानाग शिरोमणिकिरणसमूहात्समुत्पद्यते।" वल्लभ, सनातन, रामनाथ, भरत, हरगोविन्द, कल्याणमल्ल और अन्यान्य टीकाकार 'वल्मीकाग्रात्' का 'रामगिरिशृङ्गात्' अर्थ करते हैं। रामनाथ, वल्लभ आदि 'वल्मीकात्' का 'सूर्य्यात्' भी अर्थ करते हैं। 'वल्मीकाग्रात्' 'सातपमेघात्' यह अर्थ भी वल्लभ आदि टीकाकार लिखते हैं। 'वल्मीकः सातपो मेघः' 'वल्मीकः सूर्य्य इत्यादि' इनका पता कोषों में नहीं लगता। पर इन अर्थों से वैज्ञानिकता में बाधा नहीं पड़ती। रामगिरि का शिखर मान लेने में भी कोई बाधा नहीं। क्योंकि दूर से देखनेवाले ऐसा अनुमान कर सकते हैं। उच्च होने के कारण बाँबी और टीले से भी यहाँ अनुमान हो सकता है। अन्यान्य अर्थ प्राचीनता से भरे हैं।

इन्द्रधनुष के विषय में वराहमिहिर कहते हैं—

"सूर्य्यस्य विविधवर्णाः पवनेन विघट्टिताः कराः साभ्रे।
वियति धनुःसंस्थाना ये दृश्यन्ते तदिन्द्रधनुः॥"
केचिदनन्तकुलोरगनिःश्वासोद्भूतमाहुराचार्य्याः।
तद्यायिनां नृपाणामभिमुखमजयावहं भवति॥"

चौवनवें श्लोक में कालिदास लिखते हैं "तान् कुर्वीथास्तुमुलकरकावृष्टिपातावकीर्णान्" अर्थात् पहाड़ी मृग जब तुम्हें बाधा पहुँचावें तब उन्हें करका (ओले) बरसा कर तितर बितर कर देना। इसके पहले, एक श्लोक में, "तस्या एव प्रभवमचलं प्राप्य गौरं तुषारैः" अर्थात् जिससे गंगा पैदा हुई है उस हिमालय पर पहुँच कर .... इस वर्णन से विज्ञान की एक बड़ी मार्मिक बात निकलती है। इधर कालिदास ने कई श्लोकों में जल पीने और वृष्टि करने आदि का वर्णन किया है। परन्तु जब हिमालय की तराई में पहुँचते हैं तब जलवृष्टि न कराकर करका-वृष्टि कराते हैं। क्यों? वे समझते हैं कि चारों तरफ हिमालय की बर्फीली चोटियों से निकलते समय मेघ में तरल रूप से जल का रहना कभी सम्भव नहीं।

विज्ञान के सिद्धान्त से जल की तीन अवस्थायें होती हैं। जब शीत की अधिकता होती है तब जल बर्फ का आकार धारण करता है; जब उष्णता का संचार होता है तब तरलावस्था में जल दिखलाई पड़ता है; और जब जल में अधिक ताप पहुँचता है तब वह जल भाफ (वाष्प) बन जाता है। इस सिद्धान्त को दिखलाने में कालिदास ने किसी बात की त्रुटि नहीं की। मेघ पहले यथास्थान जल बरसाता आया है, पर हिमालय में शीत की अधिकता से जमे हुए जल को करका रूप से बरसाता है। जल-बिन्दुओं ने करका (Hail-stone) का आकार धारण किया है।

× × ×

काले काले भवति भवतो यस्य संयोगमेत्य
स्नेहव्यक्तिश्चिरविरहजं मुञ्चतो वाष्पमुष्णम्॥

इस से भी विज्ञान की एक बात निकलती है। इसमें 'भवति' मेघ के लिए और 'यस्य' रामगिरि के लिए आया है।

इन दोनों के संयोग का वर्णन कालिदास ने बड़ी खूबी से किया है। यदि दो मित्र परस्पर कुछ समय के बाद मिलें तो करुण-मिश्रित प्रेम के वशीभूत होकर उनके नेत्रों से आँसू चलना स्वाभाविक है। पर इस स्वाभाविक वर्णन के साथ विज्ञान का भी कुछ अंश है। पहाड़ चार महीने की गर्मी से बहुत उत्तप्त हो जाता है। उस पर यदि मेघ थोड़ा जल बरसा दे तो भाफ निकलने लगती है। उत्तप्त वस्तु पर शीत के संयोग से भाफ बनती है। जाड़े के दिनों में प्रातःकाल जो कुहरा देख पड़ता है वह इसी वैज्ञानिक सिद्धान्त का निदर्शन है। इस बात को कालिदास बड़ी उत्तमता से व्यक्त करते हैं :

× × ×

विद्युद्गर्भः स्तिमितनयनां त्वत्सनाथे गवाक्षे
वक्तुं धीरः स्तनितवचनैर्मानिनीं प्रक्रमेथाः ॥

इस पद्यार्थ का भावार्थ यह है कि जब तुम खिड़की पर जाकर बैठ जाओगे तब मेरी पत्नी टकटकी बाँध तुम्हें देखने लगेगी। उस समय तुम अपनी प्यारी बिजली को गोद में छिपा कर मन्द मन्द गर्जन रूपी वचनों से उस मानिनी से कहना प्रारम्भ करना।

यह सर्वसम्मत वैज्ञानिक सिद्धान्त है कि बादल में बिजली होती है। जब दो बादल एकत्र होते हैं तब उनमें विद्युत्संचार होता है। यदि किसी बादल में अधिक बिजली हुई तो वही दूसरे में चली जाती है। जब यह संचालन-प्रक्रिया होती है तभी गर्जन होता है। जब गर्जन होता है तब विद्युत्स्फुरण भी अवश्य होता है। ये दोनों काम साथ ही साथ होते हैं।

यक्ष यह सोचता है कि यदि मेघ अपने गर्जन-द्वारा बोलने का उपक्रम करेगा तो विद्युत्स्फुरण भी अवश्य ही होगा। इससे मेरी प्रिया की दृष्टि स्थिर होना सम्भव नहीं। जब उसकी दृष्टि स्थिर न रहेगी तब समाचार सुनने में वह दत्तचित्त नहीं हो सकती। अतः यक्ष पहले ही से मेघ को सावधान किये देता है कि भाई मेघ! तुम विद्युद्गर्भ हो जाना, अपने गर्जन के समय बिजली को अपने उदर में रोक रखना, छिपाये रहना। ऐसा न हो कि उस समय बिजली चमक जाय। कहिए, कालिदास ने इस वैज्ञानिक सिद्धान्त को योग्यतापूर्वक व्यक्त किया है या नहीं।

× × ×

मेघदूत में ऐसी ही और भी वैज्ञानिक बातें हैं। घटा घिरने और घहराने पर गोबर-छत्ते निकलते हैं—"कर्तुं यच्च प्रभवति महीमुच्छिलीन्ध्रामवन्ध्याम्।" ठंढी हवा से गूलर पकते हैं—"शीतो वातः परिणमयिता काननोदुम्बराणाम्।" तेज हवा मेघों को इधर उधर बखेर देती है। इससे मन्द मन्द हवा ही उनके लिए उपयुक्त है—"मन्दं मन्दं नुदति पवनश्चानुकूलो यथा त्वाम्"। मेघ में जल रहने से गुरुत्व और न रहने से लघुत्व आ जाता है—"तोयोत्सर्गद्रुततरगतिः—अन्तःसारं घन तुलयितुं नानिलः शक्ष्यति त्वाम्।" इत्यादि बातों को देखने से कौन कह सकता है कि मेघदूत में वैज्ञानिक बातें नहीं हैं।

मेघ-सम्बन्धी मेघदूत के इने-गिने श्लोकों में इतनी वैज्ञानिक बातों को देखकर हम तो यह समझते हैं कि कालिदास विज्ञान के अनेक सिद्धान्तों से परिचित थे।

१९२०

❀ ❀ ❀

अमेरिकावासियों की भाषा में लिंग-विचार

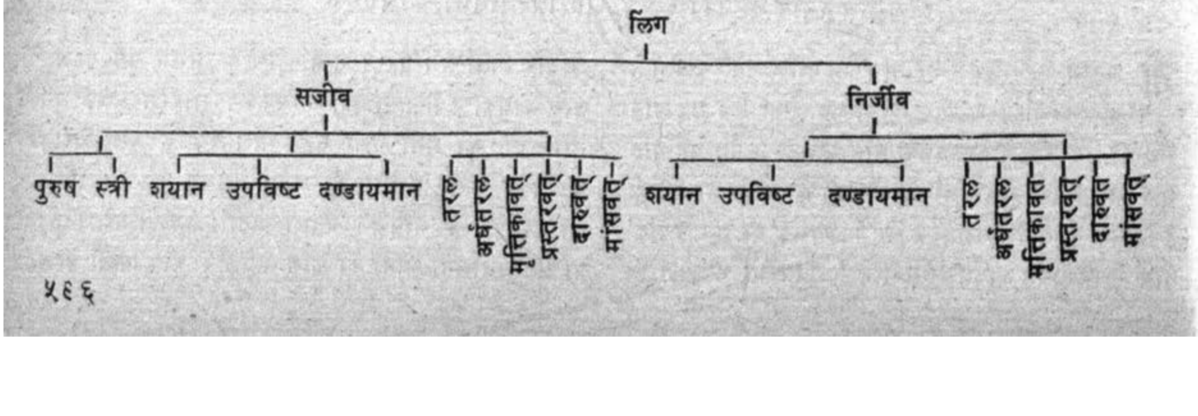
वसन्तकुमार चट्टोपाध्याय, भाषातत्त्वनिधि, एम०ए०

जो मनुष्य अन्धे लड़के का नाम "कमललोचन" रखता है वह सर्वसाधारण में उपहासास्पद होता है। यह जान कर भी हम लोग पुत्र-कन्या के नामकरण के समय यह बात भूल जाते हैं कि हमारे अधिकांश नामों की सार्थकता ही नहीं है। अनेक समय देखा जाता है कि 'करुणामय' या 'दयालचाँद' नाम से विभूषित आदमी इस नाम के विपरीत धर्म का ही आधार होता है। परन्तु भाषा-सृष्टि के प्रथम युग में जब वस्तु अथवा व्यक्तियों का नामकरण आरम्भ हुआ तब नामकरण की प्रथा ऐसी नहीं थी। क्योंकि वस्तु-विशेष को प्रकट करने के लिए ही भाषा निर्मित हुई है। भाषा का कार्य ही है 'भाषण' 'बतला देना'; भूल समझा देना या आधा बोलना भाषा का काम नहीं है। यदि किसी वस्तु

में एकाधिक भाव या लक्षण का समावेश हो तो सभ्य जाति की भाषा में उन भावों और लक्षणों में से किसी एक भाव या लक्षण को लेकर उस वस्तु का नामकरण हो जाता है। यथा हस्ती और केसरी शब्दों में। नर या वानर का हाथ रहने पर भी हस्ती शब्द से उनकी अभिव्यक्ति नहीं होगी। अश्व का केसर रहने से भी वह केसरी नहीं है। यहाँ नामकरण-प्रणाली का वैशिष्ट्य यह है कि यदि किसी वस्तु का भाव या उसके लक्षणों की समष्टि क+ख+ग हो तो केवल-मात्र क, अथवा ख, अथवा ग, लक्षण से उसका नाम हो सकता है। परन्तु जिसमें तीन लक्षण हैं, एक-मात्र लक्षण से उसके भाव का आंशिक प्रकाश होता है; समग्र नहीं। पुनश्च एक-मात्र लक्षण परिग्रहण करने से वह प्रधान लक्षण होगा, इसका भी कोई कारण नहीं है। पूर्वोक्त उदाहरण-द्वय में अप्रधान लक्षण का ही परिग्रह हुआ है। वैसे ही 'कुर्सी का हाथ', 'पलँग का पाया' आदि में 'पाया' शब्द के अर्थ से यदि 'चलन शक्ति' का अपरित्याज्य सम्पर्क हो तो पलँग का पाया नहीं हो सकता है। 'कर्मकारिता' हाथ का प्रधान लक्षण माना जाय तो चेयर का भी हाथ नहीं है। सुतराम् अप्रधान लक्षण से वस्तु का नामकरण सभ्य भाषा का एक लक्षण है। भाषा-सृष्टि के प्रथम सोपान में नामकरण-पद्धति ऐसी थी कि वस्तु-विशेष द्वारा प्रकाश्य समग्र भाव को स्फुट कर देना पड़ता था। क्रमशः नर-जाति की उन्नति के साथ-साथ वस्तु-प्रकाश्य लक्षण-समष्टि से कुछ ही परिगृहीत होने लगे, अर्थात् प्रधान लक्षण से वस्तु का नामकरण अनुमोदित हुआ। फिर अप्रधान लक्षण से भी वस्तु का नामकरण प्रचलित हुआ है। असभ्य या अर्ध-सभ्य जाति के लिए वस्तु के नामकरण में उसके मुख्य भाव का वर्जन करना दुःसाहस है।

अमरीका के आदिम अधिवासियों की भाषा में नामकरण-प्रणाली का वैचित्र्य यह है कि वे लोग वस्तु के यावतीय लक्षण तथा समग्र धर्म को एकत्र करने के लिए बहुत कोशिश करते हैं। इसीलिए उनकी भाषा में असंख्य भाव और लक्षणों का समावेश (extreme connotive-ness of many qualities and characteristics) परिलक्षित होता है। अमरीका की भाषा का यही प्रधान लक्षण है। वे लोग जैसे अपनी चित्र-लिपि में बहु वाक्य-प्रकाश्य भाव को समग्र रूप से प्रकाशित करते हैं, वैसे ही भाषा में भी बहुतेरे भावों और लक्षणों को एकत्र कर देते हैं। वे लक्षणों में प्रधान-अप्रधान का भेद नहीं कर सकते हैं; अप्रधान भाव का वर्जन तो कभी नहीं होता। उनकी भाषा-रचना और चित्र-रचना एक ही प्रकार की है। चित्र-रचना में अवान्तर लक्षण भी नहीं छोड़ दिया जाता है। समूचे शरीर में जहाँ जो कुछ है चित्र में उसका प्रकाश होना चाहिए। अमरीका की भाषा में भी यही बात है।

अमरीका के आदिम लोगों के विचित्र लिंग-विचार का भी वही एक लक्षण प्रधान है—भाव-बाहुल्य। इनके लिंग-वाचन को समझने के लिए हमको यह एकदम भूल जाना पड़ेगा कि लिंग से भाषा में पुं-स्त्रीत्व-वाचन होता है। पुं-स्त्रीत्व-वाचन इनकी भाषा का अति अप्रधान लक्षण है। कभी पुं-स्त्रीत्व-वाचन होता है, कभी नहीं होता है; और यह होने में कुछ हर्ज भी नहीं है। परन्तु लिंग के विचार में पहले पहल यह सोचना पड़ता है कि कोई वस्तु सजीव है या निर्जीव। सजीव वस्तु या प्राणी का पुं-स्त्रीत्व-वाचन भी कभी-कभी होता है। वस्तु की सजीव-निर्जीवता का विचार कर लेने के बाद यह सोचना पड़ेगा कि वह **दण्डायमान** है या **शयान** है अथवा **उपविष्ट**। इसके बाद यह विचारणीय होगा कि उसका गठन कैसा है। छः प्रकार के गठन (आकृति) इनके लिंग-वाचन में कल्पित हुए हैं :—(१) **तरल** (watery) (२) **अर्धतरल** (mushy or pulpy) (३) **मृत्तिकावत्** (earthy) (४) **प्रस्तरवत्** (stony), (५) **दारुवत्** (woody) और (६) **मांसवत्** (fleshy)। इनके लिंगवाचन का क्रम नीचे नक्शे में परिस्फुट किया जाता है—



अतएव पुं-स्त्रीत्व-वाचन को छोड़ देने से भी इनकी भाषा में विभिन्न लिंगों की संख्या अठारह है। पुरुष और स्त्री को लेकर होंगे बीस। एक उदाहरण देखिए। हम लोग बोलते हैं—उसने एक खरगोश को (hare) मारा है। इतने ही से हम वाक्य-रचना करके समग्र भाव को प्रकाशित कर लेते हैं। वह कैसा आदमी है? किस अस्त्र से मारा है? खरगोश कैसा है? इत्यादि बातें न पूछ कर भी हम इस वाक्य के भाव को समझ लेते हैं। मगर अमरीकावासी इतने ही में बात नहीं समझेगा। उसके वाक्य की रचना ऐसी होगी—

"वह—एक सजीव-मांसवत्-दण्डायमान-कर्तृपद इच्छा-पूर्वक—वाण से—मार डाला खरगोश—वह—एक—सजीव—मांस—वत्—उपविष्ट—कर्मपद।"

बिना इतनी बातें कहे अमरीकावासी का भाव व्यक्त नहीं होता है। केवल एकमात्र 'वह' पद से कर्तृत्व का भाव नहीं स्फुट होगा। पहले उसको यह समझाना चाहिए कि 'वह' एक-वचन है या द्विवचन है, अथवा बहुवचन है। उसके बाद जानना होगा कि वह 'वह' सजीव-लिंग या निर्जीव-लिंग है। फिर सोचना चाहिए कि वह दण्डायमान है, या शयान है, अथवा उपविष्ट है। उसका अवस्थान जान लेने के बाद फिर सोचना चाहिए कि उसका गठन कैसा है, तरल, अर्धतरल, मृत्तिकावत्, प्रस्तरवत्, दारुवत्, अथवा मांसवत्। ये सब जान लेने के बाद कर्तृपद का प्रत्यय उसके साथ जोड़ा जायगा। तब समग्र भाव स्फुट होगा। किसी किसी भाषा में पुं-स्त्रीत्व-वाचन भी होता है। हिन्दी 'वह' पद के लिए अमरीका की भाषा में इतनी रचना करनी पड़ेगी। फिर क्रियापद में भी बहुत सोचना है। कार्य में इच्छा थी या नहीं थी, यह भी जानना चाहिए। मारने का साधन क्या था, यह भी बतलाना होगा। कर्मपद भी कर्तृपद के अनुरूप होगा।

इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि ये लोग सार और असार की भेद-कल्पना नहीं कर सकते हैं। इनके लिए असार को छोड़कर सार वस्तु का वाचन सम्भव नहीं है। इसीलिए सार असार सबको मिलाकर ये भाषा की रचना करते हैं। हमारे नाटकों में एक श्रेणी की दासी का चरित्र अंकित होता है जो किसी व्यापार का वर्णन करने के समय अवान्तर बातों में ही बहुत समय बिता देती है, सार अथवा असार में भेद-कल्पना करना इनकी शक्ति के बाहर है। अमरीकावासी की मनोवृत्ति भी वैसी है। इसीलिए उसकी भाषा में इतनी जटिलता है।

लिंग, वचन और पुरुष (gender, number and person) समझाने के लिए अमरीकावासी की भाषा में एक प्रकार के अन्वय-सर्वनाम (article pronoun) का व्यवहार होता है। इनकी भाषा में किसी प्रकार के प्रत्यय का व्यवहार नहीं है। सभी तरह के प्रत्ययों के काम चलाते हैं यही अन्वय-सर्वनाम। इसका प्रयोग भी विचित्र प्रकार का है। क्रियापद के साथ पाँच-सात-दश अन्वय-सर्वनाम का संयोजन होता है। उसी से कर्तृपद और कर्मपद का अन्वय सब तरह से समझा जाता है। अन्वय-सर्वनाम कई प्रकार के होते हैं। कर्तृपद के लिए जिसका व्यवहार है कर्मपद के लिए उसका व्यवहार नहीं है। लिंग, वचन, पुरुष, कारक सबकी अभिव्यक्ति इसी के प्रयोग से होती है।

अमरीका की भाषा में पद-विभाग नहीं है। प्रत्ययादि भी नहीं है। विशेष्य (नाम, now) और क्रिया के रूप में कोई भी प्रभेद नहीं है। एक क्रिया के साथ सब पदों को जोड़कर एक पद अथवा वाक्य की (Sentence-word) रचना की जाती है। इसी लिए ये भाषाएँ बहु-संयोजनशील (या poly-synthetic), समग्र-प्रकाशी (holophrastic) अथवा संयोजन-धर्मी (synthetic) कही गई हैं।

अमरीका में असंख्य जातियाँ और असंख्य भाषाएँ हैं। इन भाषाओं की संख्या चार सौ और पाँच सौ के बीच में है। सभी भाषाओं की प्रकृति एक ही प्रकार की है। साधारणतः भेद भी बहुत हैं। उनमें से कतिपय जातियाँ अपेक्षाकृत सभ्य हैं, इसीलिए उनका साहित्य भी है और लिपि भी है। सभी लिपियाँ चित्र-लिपि हैं।

१९२२

❀ ❀ ❀

समाज की समस्या

श्री० द्वारकाप्रसाद मिश्र

हिन्दू प्रारम्भ से ही आदर्शवादी है। उसका आदर्श-वाद उसके दार्शनिक और राजनैतिक साहित्य से स्पष्ट रूप से व्यक्त होता है। दार्शनिक क्षेत्र में उसकी पहुँच 'तत्त्व-मसि' जैसे उच्चतम सिद्धान्त तक हो गयी थी और राज-नैतिक क्षेत्र में पंचायत-प्रथा का महत्त्व स्वीकार करके उसने अपनी मनस्विता का परिचय दिया था। उसके इसी रूप पर मुग्ध होकर एक जर्मन पण्डित ने कहा था—हिन्दू-मस्तिष्क कल्पना-शक्ति की चरम सीमा को अतिक्रमण कर गया है। परन्तु वही हिन्दू जाति इस समय पाश्चात्य सभ्यता के माया-जाल में पड़कर अपने आदर्शवाद से अपना सम्बन्ध विच्छिन्न कर रही है। संकुचित उद्देश्य, व्यवहार और स्वार्थ ही उसके ध्येय हो रहे हैं। साक्षर समाज आराम से रहने के लिए लालायित है। पाश्चात्य-सभ्यता के अन्ध अनुकरण से ही यह स्थिति पहुँची है कि शिक्षित भारत-वासी अपने प्रश्नों के हल करने तथा अपने समाज के सुधार से विरक्त हो गये हैं। इँगलैंड के लब्ध-प्रतिष्ठ विद्वान् राजनीतिज्ञ लार्ड मार्ले ने सन् १८८६ में समझौता (Compromise) नाम का एक ग्रन्थ लिखा था। इस ग्रन्थ के सिद्धान्त भारत पर भी लागू होते हैं। अतएव उन्हीं के आधार पर यहाँ कुछ लिखा जाता है।

समाज सेन्द्रिय (Organic) वस्तु है। विकास और विनाश में ही उसका आदि और अन्त है। दूसरे सेन्द्रिय पदार्थों की भाँति उसमें भी स्थिरता नहीं है। सेन्द्रिय पदार्थ या तो उन्नति करते हैं या पराभव को प्राप्त होते हैं। वे किसी मध्य अवस्था का आश्रय लेकर सजीव नहीं रह सकते। इसी प्रकार समाज भी विकास के अभाव में विनाश की ओर ही अग्रसर होता है। स्थिरता उसकी मृत्यु है। अतएव जो समाज वर्तमान स्थिति को स्थायी करने का प्रयत्न करेगा, उसका वह काम अपने लिए अपनी चिता तैयार करना है। इसी कारण उदार सिद्धान्त वांछनीय और अनुदार सिद्धान्त त्याज्य समझे जाते हैं।

कुछ समाज-सुधारक विकास और विनाश के इस रहस्य का ज्ञान नहीं रखते, कुछ उसका विपरीत अर्थ करते हैं। परिवर्तन के बिना विकास असम्भव है। समाज के विचार और संस्थाओं का परिवर्तन उसका विकास कहलाता है। समाज परिवर्तनशील है। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि समाज के विचार और संस्थाओं में मानव-उद्योग के बिना परिवर्तन होता है। उसकी परिवर्तन-शीलता में मानव-प्रयत्न का भी सहयोग रहता है। संसार की उन्नति केवल इसीलिए होती है कि लोग उसे उन्नत करना चाहते हैं और अपने इष्ट-लाभ के लिए वे आवश्यक प्रयत्न करते हैं। विकास-शीलता उन्नति की प्रणाली है, शक्ति नहीं।

संसार के भिन्न-भिन्न समाजों के प्रारम्भिक इतिहास पर दृष्टि डालिये, आपको कोई न कोई ऐसा व्यक्ति अवश्य मिलेगा जो उस समाज के विचारों का स्रोत कहा जा सकता है। चीन के कंफूशियस, अरब के मुहम्मद, पैलेस्टाइन के ईसा और भारत के प्राचीन वैदिक ऋषि अपने अपने समाज के आदर्शों की गंगोत्तरियाँ हैं। इन्हीं के उच्च मस्तिष्क से विचारों की गंगा ने नीचे बहकर मैदानों के शुष्क पौधों को हरा-भरा किया है, ये अपने-अपने समाजों के आदर्श पुरुष हैं। इन्हें अवतार कहिए, पैगम्बर कहिए, ईश्वर का पुत्र कहिए, सभी नामों से इनकी महत्ता प्रकट होगी। ज्ञानरूपी प्रकाश के लिए भटकता हुआ संसार इनके विचारों को ईश्वरीय ज्ञान मानकर 'धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायां महाजनो येन गतः स पन्थाः" कहता हुआ सहस्रों वर्ष तक इनके निर्दिष्ट किये हुए पथ पर चलता रहता है।

समाज-शास्त्र ने उन्नत होकर यह सिद्ध कर दिया है कि महापुरुषों के विचार उनके मन में अकारण नहीं उत्पन्न होते। भूतकाल और वर्तमान परिस्थिति से उनका गहरा और प्रत्यक्ष सम्बन्ध रहता है। किसी विशेष व्यक्ति अथवा व्यक्तियों में ही इन विचारों के आविर्भाव का कारण यह है कि उनकी विशेष परिस्थिति अथवा विशेष मानसिक शक्तियाँ उन्हें इनके मार्ग पर खड़ा कर देती हैं। ऐति-हासिक अनुभव से सिद्ध हो गया है कि पुरानी रूढ़ियाँ जिन्हें अधिक कष्ट-प्रद प्रतीत होती हैं, उन्हीं को मुक्त करने के लिए उनके मन में उन्नत विचारों का उदय होता है। फ्रांस में ही सर्व-प्रथम लोकतन्त्र-शासन का बीजारोपण होने का कारण यह है कि वहाँ का राज-तन्त्र प्रजा के लिए असह्य हो गया था। वर्तमान काल में साम्यवाद का जन्म रूस में ही हुआ है, क्योंकि वहाँ कुलीन और अकुलीन, पूंजीपति तथा

दरिद्र में आकाश-पाताल का भेद था। इसके सिवा कुछ व्यक्ति भी स्वभावतः ऐसे होते हैं जो रात-दिन नये विचारों की खोज में व्यस्त रहते हैं। उनका मस्तिष्क मौलिकता का भाण्डार होता है। नूतन विचार ही उनके आनन्द की सामग्री और उनके जीवन का ध्येय रहते हैं। जिस प्रकार चुम्बक लोहे को आकर्षित कर लेता है, उसी प्रकार विकास-शीलता के नियमानुसार ज्योंही वर्तमान परिस्थिति से नव विचारों के उदय का समय आता है, त्योंही ऐसे मौलिक मस्तिष्क उन्हें अपनी ओर खींच लेते हैं।

अस्तु, किसी विशेष परिस्थिति अथवा विशेष बुद्धि के कारण विशेष व्यक्ति में नूतन विचारों का जन्म होता है। ऐसे पुरुष पर समाज की उन्नति निर्भर रहती है। धर्म-शास्त्र के शब्दों में कहा जा सकता है कि वह व्यक्ति पैगम्बर है। उसके द्वारा ईश्वर ने समाज को सन्देशा भेजा है। यदि वह मौन रहा, तो समाज-सुधार तथा विकास रुक जाता है। सड़े-गले सिद्धान्त और विषैली संस्थाएँ समाज में स्थायी होकर उसे उसी प्रकार नष्ट करती हैं, जिस प्रकार शरीर में अपरिपक्व भोजन रह कर उसे हानि पहुँचाता है।

विचार करना, निश्चित विचारों का प्रकट करना और समय आने पर उन्हें कार्य्यरूप में परिणत करना, ये आदर्श-वाद के तीन अंग हैं और इन्हीं पर समाज का उत्कर्ष अव-लम्बित है। विचार ही मानव-विकास का कारण है। आज तक समाज की जितनी उन्नति हुई है वह सब विचारों के कारण हुई है। विचार-पारावार अथाह है। इन्द्रियाँ इसके परे नहीं जा सकतीं। एक योरोपीय दार्शनिक ने तो यहाँ तक कह डाला है—The world is an idea विचारों में संसार की उन्नति के लिए अनन्त शक्ति का अनुभव कर सभी प्रख्यात विद्वानों ने उनका महत्त्व स्वीकार किया है। अतीत-काल में प्रत्येक मनुष्य का यह निश्चित धर्म्म था कि वह सत्य विचारों का अनुसन्धान करे। जो मनुष्य सत्य-ज्ञान की प्राप्ति के लिए प्रयत्न नहीं करता था, वह पापी समझा जाता था। इसी कारण भूतकाल में सर्वत्र एक से एक महान् उत्पन्न हुए। इनकी ज्ञान-पिपासा और उसके बुझाने के प्रयत्न आदर्शवाद के इतिहास में स्वर्णाक्षरों में अंकित हैं।

इधर बीसवीं शताब्दी की कथा दूसरी ही है। उसने अपनी प्रत्येक सन्तान का यह धर्म बता दिया है कि वह आमोद-प्रमोद की सामग्री एकत्र करने में ही अपने जीवन की सार्थकता समझे। ईसा ने शैतान के प्रलोभनों के उत्तर में धर्य्य से कहा था—Man lives not by bread alone परन्तु ईसा का अनुयायी योरप आज संसार को क्या सन्देश दे रहा है?—Man lives by bread alone रोटी का प्रश्न योरप का एकमात्र प्रश्न है, इसका अर्थ यह नहीं कि वहाँ रोटी का अभाव है। योरप इतना धनी है कि यदि वह चाहे, तो सारे संसार का पोषण करे। परन्तु वहाँ रोटी का अर्थ विलासिता है। मुट्ठी भर व्यक्ति करोड़ों की आँखों में धूल डालकर अनन्त वसुधा के अधिकारी किस प्रकार हो जायँ, और उसकी रक्षा किस प्रकार करें, यही दो बातें योरप की राजनीति और अर्थशास्त्र के सर्वस्व हैं। परमार्थ की चिन्ता नहीं, दूरदर्शितापूर्ण स्वार्थ की ओर दृष्टि नहीं है केवल "आज का स्वार्थ" यही एक आदर्श योरप के प्रत्येक युवा के लिए इस समय रह गया है।

जो विलासी नहीं हैं वे शान्ति-प्रियता के भक्त हैं। जिस प्रकार अधिकांश नागरिकों के अप्रिय अतिथि को नगर के किसी गृह में स्थान नहीं मिलता, उसी प्रकार लोक-मत के विरुद्ध विचारों के सोचने तक से ये लोग भयभीत होते हैं। बड़े-बड़े राजनीतिज्ञ महत्वपूर्ण सामाजिक तथा दार्शनिक प्रश्नों के अस्तित्व से अभिज्ञ रहते हैं, परन्तु वे सोचते हैं कि यदि उन्होंने इनको पूर्णतया हल करने का प्रयत्न किया, तो सम्भव है कि वे किसी ऐसे परिणाम पर पहुँच जायँ जिसका स्वागत जनता अभी शताब्दियों तक नहीं करेगी। यदि जनता को उनके विचारों का पता लग गया तो वे उसकी आँखों में गिर जायँगे। जीवन अल्पकालिक है, लोक-मत कर्त्तव्य की शिक्षा देनेवालों के प्रतिकूल है, सत्य नाम पर मर मिटने-वाले इस समय मूर्ख कहलाते हैं, अतएव उचित तो यही है कि जनता के अनुकूल रहकर अपने सामाजिक सुख और शान्ति की रक्षा की जाय, मन में विचार रहेंगे तो सम्भव है प्रमादवश शब्दों का रूप ग्रहण कर लें, अतएव लोक-मत के प्रतिकूल विचारों को मन में स्थान तक न देना चाहिए।

उपर्युक्त-प्रणाली से समाज और व्यक्ति की असीम हानि होती है। ईश्वर ने मनुष्य के लिए ज्ञान का अपरिमित क्षेत्र दे रक्खा है। जो व्यक्ति अथवा समाज विलासिता अथवा लोक-मत के भय से अपने को इस

क्षेत्र के एक क्षुद्र भाग में कैद कर रखता है, वह अपनी उन्नति का द्वार बन्द कर अवनति की ओर पग बढ़ाता है। ईश्वर, समाज, आत्म-विवेक तथा मानसिक आत्म-गौरव के प्रति जो उसका उत्तरदायित्व है वह प्रतिक्षण क्षीण होता जाता है। अन्त में उसका पतन हो जाता है।

कुछ व्यक्ति ऐसे होते हैं जो नूतन विचारों का स्वागत तो करते हैं, परन्तु उन्हें प्रकट नहीं करते। उनका विचार है कि यदि अशिक्षित और अन्ध-विश्वासी लोग सच्ची बातों से अभिज्ञ हो जायँगे तो समाज में हलचल मच जायगी। उदाहरणार्थ, प्रत्येक विचार-शील समाज में कुछ व्यक्ति ऐसे होते हैं जो ईश्वर की सत्ता और धर्म नीति की सत्यता पर सन्देह करते हैं; परन्तु वे अपना सन्देह जनता पर कभी न प्रकट करेंगे। उनका विचार है कि ज्ञानियों ने धनी और बली लोगों को मर्य्यादा में रखने के लिए इनकी कल्पना की है। यदि ईश्वर और धर्म्म पर से इनका पूज्य भाव उठ गया तो क्रान्ति होने में देर न लगेगी। प्रसिद्ध अँगरेज दार्शनिक ह्यूम (Hume) इससे भी आगे बढ़ गया है। वह कहता है कि यदि कोई युवा ईसाई धर्म पर अविश्वास करता हो, परन्तु धर्म्म-प्रचारक बनकर वह जीविका प्राप्त कर सकता हो, तो वह पादरी बनकर ईसाई धर्म्म का प्रचार निःसंकोच होकर कर सकता है, क्योंकि अज्ञानियों के साथ निष्कपट होने की आवश्यकता नहीं है।

इस प्रकार के कपटाचारियों का जीवन प्रारम्भ में सुखपूर्ण हो सकता है, परन्तु ज्यों-ज्यों समय व्यतीत होता जायगा त्यों-त्यों उनका पाप अपने भयानक परिणामों को प्रकट करने लगेगा। ऐसे लोगों की मानसिक शक्तियाँ स्वार्थ और सत्यता विषयक तुच्छ भावनाओं के वायुमण्डल में रहकर अपने सुन्दर रूप और जीवनी शक्ति को खो बैठती हैं। कौन नहीं जानता कि उच्चकोटि की मानसिक प्रतिभा से युक्त व्यक्ति नीच नीति द्वारा साध्य स्वार्थ की बेड़ी पर अनन्त आशाओं से अपने पूर्ण जीवन की बलि दे देते हैं; और साधारण शक्तियों से सम्पन्न व्यक्ति अपनी सत्य-प्रियता और चारु-चरित्र के बल पर विश्व का उपकार कर अक्षय कीर्ति के भागी होते हैं। यदि दार्शनिक ह्यूम अपने प्रारम्भिक जीवन में भी इन्हीं विचारों का अनुमोदक होता, जिन्हें उसने अन्त में प्रकट किया, तो आज योरप एक उच्चकोटि के तत्त्ववेत्ता से वंचित रहता।

सामाजिक उत्कर्ष के उत्तम साधनों से परिचित सभी व्यक्ति इस प्रकार के कपटाचार के आखेट नहीं होते। इन लोगों के मौन धारण किये रहने का दूसरा कारण होता है। ये सोचते हैं कि सबसे पहले मैं ही क्यों प्रचलित सामाजिक सिद्धान्तों का विरोध करूँ? यदि इस बात की परीक्षा की जाय तो स्पष्ट हो जायगा कि इसकी तह में आत्म-विश्वास के अभाव के साथ-साथ शान्ति-प्रियता छिपी है। यह निश्चित ही है कि प्रचलित जीर्ण-शीर्ण सिद्धान्तों के विरोध के लिए किसी न किसी को सबसे पहले आगे आना ही पड़ेगा। यह सम्भव है कि दूसरों के तैयार होने तक ठहरना आवश्यक हो, परन्तु यदि सर्वप्रथम आग बढ़ने का भार कोई एक न लेगा, तो यह भी नहीं जाना जा सकता कि दूसरे तैयार हैं अथवा नहीं। यदि समाज-सुधारक दीर्घसूत्रता में पड़े रहें तो समय की गति के साथ हानिकारक सामाजिक बन्धन उत्तरोत्तर दृढ़ होते जायँगे और इस प्रकार सुधार का कार्य कठिन हो जायगा। यदि कोई कार्य-क्षेत्र में न आया तो समाज का विकास रुक जायगा। दीर्घकाल व्यतीत हो जाने पर यदि कोई व्यक्ति सामाजिक सुधार का काम करने के लिए आग बढ़ा तो जो परिवर्तन पहले सरलता से हो जाता उसके लिए उसे भीषण क्रान्ति करने की आवश्यकता पड़ेगी।

कुछ समाज-सुधारक नेतृत्व ग्रहण करने से भयभीत नहीं होते, परन्तु वे यह सोचकर ठहर जाते हैं कि अभी सुधार का समय नहीं आया। उन्हें यह स्पष्टतया जान लेना चाहिए कि सुधार का प्रारम्भ करने के लिए ठहरना अवश्यक हो सकता है, परन्तु सुधार-सम्बन्धी विचारों को प्रकट करने के लिए सब काल उपयुक्त रहता है। यदि सत्य है कि नये विचार वर्तमान परिस्थिति से उत्पन्न होते हैं तो यह भी सत्य है कि उनके स्वागत करने के लिए अनेक आत्मायें तैयार रहती हैं। समाजसुधारक और जनता एक ही युग की सन्तति होती हैं, अतएव उनके मस्तिष्क और हृदय में कुछ साम्य अवश्य रहता है। यदि सुधारक के मन में कोई नया विचार उठता तो वह साधारण लोगों के समक्ष उपस्थित होगा। यदि सुधारक ने नये प्रकाश का दर्शन कर लिया है तो कुछ ऐसी आत्मायें अवश्य होंगी जो

निकट ही इस ज्योति के दर्शन के लिए भटक रही होंगी। जिसे सुधारक ने पा लिया उसीको प्राप्त करना उनका भी ध्येय है। अतएव चाहे उनका मस्तिष्क उसके पाने के अयोग्य भी हो उनका उत्सुक हृदय उसका स्वागत अवश्य करेगा। मैं परिवर्तन के लिए तैयार हूँ, यह परिवर्तन समाज के लिए लाभदायक है, यदि मैं आगे न बढ़ूंगा, तो दूसरे ही क्यों बढ़ेंगे——इन बातों को सोचकर समाज-सुधारक को चाहिए कि वह अपना ईश्वरीय संदेश जनता को सुनाये। जो सुधारक समझौते का अनन्यभक्त बनकर, विलासिता और कायरता का शिकार होकर, उपर्युक्त बातों की ओर नेत्र बन्द कर, ऐसा आचरण करता है, मानों वह ईश्वरीय आदेश से अनन्य है, वह सत्य-धर्म्म के शत्रुओं से भी अधिक नीच और निष्ठुर है। सचाई के शत्रु, जिन सत्य-सिद्धान्तों से घृणा करते हैं, उन्हें उनकी प्रौढ़ावस्था में कुचलते हैं; परन्तु समझौते के उपासक अपनी प्यारी सत्यता के बीजों का हनन उसके गर्भ में ही करते हैं। एक केवल हत्यारा है, दूसरा भ्रूण-हत्या के गुरुतर पाप का भागी होता है।

सत्य सिद्धान्तों को कार्य्य में परिणत करने के लिए समय की परख तथा दीर्घ दृष्टि की अत्यन्त आवश्यकता है। ऐसे अवसर पर समझौते का उचित उपयोग होता है। सिद्धान्त के रूप में तो सभी धर्म यह घोषित करते हैं कि आकाश-पाताल एक क्यों न हो जायँ, मानव-समाज को सत्य का आलिंगन किये रहना चाहिए, परन्तु वास्तविक कर्मक्षेत्र में कर्मयोगियों को भी हवा का रुख देखना पड़ता है। स्वार्थवश नहीं, कायरता से भी नहीं, सत्य की अबाधित विजय के ही निमित्त समीपवर्ती शक्तियों और प्रवृत्तियों की अनुकूलता एवं प्रतिकूलता की ओर ध्यान देना पड़ता है। धर्मान्ध व्यक्ति इसीलिए बुरा है कि वह अपने अमर्यादित उत्साह के कारण समय का ध्यान न रख कुछ का कुछ कर बैठता है और इस प्रकार अपने इष्ट को लाभ के स्थान पर हानि पहुँचाता है। अतएव सुधारकों को इस बात पर सदैव दृष्टि रखनी चाहिए कि जिस समाज का वे सुधार चाहते हैं वह प्राचीन है और अपनी विशेष व्यवस्था रखता है, यद्यपि अब वह अनावश्यक हो गयी है। जो व्यक्ति नवीन विचारों का विरोध करते हैं उनके भी विचार, आचार-व्यवहार और संस्थायें सहस्रों वर्ष के विकास और उत्कर्ष के परिणाम हैं और उनके अस्तित्व के साथ वे आबद्ध हैं। इन्हें एक ही दिन में उखाड़ फेंकना और नवीनता को ग्रहण कर लेना इच्छा रहते हुए भी उनके लिए असम्भव है। ध्यान में रखने योग्य दूसरी बात यह है कि मानव-जीवन केवल विचारों और भावनाओं से ही नहीं बना है। उसका अधिक भाग लोक-यात्रा का आयोजन करने में ही व्यतीत हो जाता है; क्योंकि यह अनिवार्य है। सत्य का मार्ग फूलों की शय्या नहीं है। कहीं तूफानी नदी है तो कहीं अलंध्य पर्वत-मालायें। सत्य का झण्डा लेकर ऐसे पथ पर चलते-चलते यदि अनुयायी थक जायँ और विश्राम करने लगँ तो नायक को खिन्न, रुष्ट और निराश न होना चाहिए। अनुयायियों से दस पग आगे रहना, उनके थककर बैठ जाने पर स्वयं ठहर जाना, चलने को प्रस्तुत देखकर फिर दस पग आगे बढ़कर चलने लगना, यही नेतृत्व का रहस्य है।

जिस दिन नेता सुधार के मार्ग पर पैर रक्खे उसी दिन उसे प्राणों का मोह छोड़ देना चाहिए, क्योंकि सहयोगियों का विश्वासघात और विरोधियों की नंगी तलवार सदा उसके मस्तक पर नृत्य किया करती है। कभी-कभी ऐसा समय आ जाता है जब अनुयायी साहस छोड़कर सदा के लिए विश्राम करने पर तुल जाते हैं। नेता के सहमत न होने पर ये उसके प्राणों के गाहक हो जाते हैं। प्रसिद्ध नाविक कोलम्बस पर ऐसी ही विपत्ति आयी थी, परन्तु ईश्वर ने उसकी सहायता की और दूसरे ही दिन अमरीका महाद्वीप का दर्शन पाकर उसके नाविक बन्धुओं का असन्तोष मिट गया। महात्मा बुद्ध को भी उनके शिष्य छोड़कर चले गये थे, जुडा इस्कारियट ने ईसा को धातु के कुछ टुकड़ों के लिए शत्रुओं के हाथों बेच तक डाला था। इसी प्रकार यदि विरोधी प्रबल हो उठें तो सुधारक को उनकी क्रूरता का शिकार होना पड़ता है। ऐसे अवसर पर सच्चे और दृढ़-प्रतिज्ञ नेता कसौटी पर कसे जाते हैं। यह कहकर बच निकलना कि यदि मेरा अन्त हुआ तो सचाई का भी अन्त हो जायगा——अतएव सत्य के लाभार्थ ही मुझे अपनी प्राण-रक्षा करनी चाहिए——केवल प्रलाप है। सत्य और न्याय, मान की वस्तुएँ नहीं हैं। उनकी सृष्टि विश्व के साथ ही साथ की गयी है। मनुष्य इनके संस्थापन अथवा निर्मूलन में निमित्त-मात्र है। संसार के सभी महान् नेताओं ने इस सिद्धान्त की सत्यता पर विश्वास कर काम किया है।

अनुयायियों के विश्वासघात के भय से उन्होंने पलायन नहीं किया। आततायियों के समक्ष पश्चात्ताप करके उन्होंने अपना सिर नहीं झुकाया। मेरे जीवन की अपेक्षा मेरी मृत्यु से ही सत्य का अधिक कल्याण होगा, यह कहते हुए महात्मा ईसा शूली पर चढ़ गये और दार्शनिक सुकरात ने विष का प्याला अमृत समझकर मधुर मुसकुराहट के साथ पी लिया। सुकरात के साथ उनके सिद्धान्तों का अन्त नहीं हुआ। ईसा के साथ उनका धर्म शूली पर नहीं चढ़ गया। जुडा इस्कारियट ने फाँसी लगाकर प्रायश्चित किया और ईसा के शिष्यों ने उनके बलिदान की शुभ प्रेरणा से उत्तेजित हो सारे पाश्चात्य देश को ईसाई-धर्म का अनुयायी बना दिया।

विगत योरपीय महा संग्राम ने और वर्तमान विश्वव्यापी अशान्ति ने पाश्चात्य भौतिक सभ्यता का नग्न रूप प्रकट कर दिया है। प्रस्तुत परिस्थिति ने जगत् को किसी नये सन्देश के सुनने के लिए तैयार कर दिया है। अतएव आवश्यकता है सच्चे कर्मवीरों की, जो मनव-सामाज का जीर्णोद्धार कर उसे उस उच्चासन पर पहुँचा दें, संतप्त संसार को एक बार फिर से समता, स्वतन्त्रता और विश्व-बन्धुत्व का सन्देश देकर सुखी कर सकें।

१९२२

❀ ❀ ❀

उच्छ्वास

श्री शिवाधार पांडे एम० ए०

मैं छोटा था, बहुत छोटा। चकराता पहाड़। सामने छोटा-मोटा मैदान, बाईं ओर बस्ती, दाहिनी ओर बड़ा भारी खड्ड—रात में कभी-कभी उसमें सिंह दहाड़ता था। अँधियाला आया, लोग कुंडी देकर भीतर सो गये। रात में बरफ गिरी, दरवाजा तोप दिया। सबेरे उठकर देखा—पाला! नन्दहा सा आँगन आईना हो रहा है। गायवाला खूंटा बंभोला बना बैठा है। ऐसे दिनों में मैंने हिन्दी पढ़ना आरम्भ किया। गोस्वामीजी ने रामचन्द्र जी की राह जताई।

दिन चढ़ा। सूर्यदेव ने सोना बरसा दिया। फावड़ों से काटकर जवांमर्द जमादारों ने बर्फ खड्ड में फेंक दी। दरवाजा खुला। यह क्या? बंगवासी! नन्हें से दालान में एक लम्बी हिन्दी की चादर बिछ गई। हम लोटने लगे। भाई वाह! क्या मजा है? टेसूराम! चिरजीव रहो। पंचानन्दजी! तुम्हारे चार चुटैया और हों। और समाचार क्या बला हैं दो सतरों में पढ़ते हैं कि यूनानियों ने फलानी लड़ाई जीत ली। इतने यूनानी मरे और इतने तुर्क—और दस सतरों में देखते हैं कि जोड़ा बागान के फलाने गाड़ीवाले से फलाने गाड़ीवाले की कैसी ठनी, क्या-क्या फव्वारे छूटे, कैसा गुत्थमगुत्था हुआ। और पत्रप्रेरकों को उत्तर? धन्य धन्य! गागर में सागर। बड़े बड़े मिनिस्टर आवें, मात हो जायँ। कई बरस बाद मालूम हुआ, यह सब जादू किसके बाएँ हाथ का खेल था। बालमुकुन्द गुप्त। जिस लोक में तुम हो, नये-नये आनन्द उड़ाओ। बड़े बड़े लड्डू पेड़े पाओ। दो ब्राह्मण-सन्तानों का रोआँ रोआँ तुम्हें यह अनन्तकाल के लिए आशीर्वाद दे चुका है। इस बुढ़ौती में हम तुम्हारी कैसी ही समालोचना करें, पर तुम्हारे लिए सरस्वती की बटुई विधाता का बड़ा बटुआ ही हो जाय, और तुम उसे जेब में रख के चल दो।

(२)

पहाड़ छूट गया। अँगरेजी माथे पड़ी और संस्कृत। अब फुरसत कहाँ? परन्तु गोस्वामीजी तो अन्त तक साथ देगें ही । अरे! यह क्या? स्वयं सरस्वती? कैसी छटा छा गई? आज हिन्दी का मुँह उजला हो गया। इन दर्शनों का किसे ध्यान था? आह! ध्यान देकर सुनो, यह क्या गूँज रहा है? "स्वस्ति हो, स्वस्ति हो, यह गद्य का युग है।" थोड़े दिनों में घर घर इस मन्त्र का उच्चारण होने लगा

सब बैठे हैं। सभा होनेवाली है। कन्नौज नगर है। एकाएक सनसनी फैली। द्विवेदी जी कविता पढ़ेंगे। एँ! वह सिद्धहस्त, वह सम्पादकसिंह, वह खड़ी बोली को खड़ा

करनेवाला महात्मा! हम उनसे डाह करते थे। उन्होंने खड़ी बोली के मारे नाक में दम कर दिया, लोगों को सन्देह होने लगा कि ब्रजभाषा की कहीं हत्या ही न हो जाय। परन्तु महावीरप्रसाद द्विवेदी! किस कान्यकुब्ज का हृदय न फूल उठेगा? किस हिन्दू की छाती न चौड़ी हो जायेगी? सभापति थे कोई बीस बिस्वा के गोबरगणेश। द्विवेदीजी आगे आये। कविता पढ़ी गई। आहा! यह क्या? इसका हमें स्वप्न भी न था। द्विवेदी जी, जाओ। दूसरी बेर तुम्हारा दर्शन हो या न हो। तुम्हारी कविता की कभी समालोचना हो या न हो परन्तु खड़ी बोली को हम आज से कुछ नहीं कहेंगे। तुम्हारी जय हो!

(३)

समय बदलता है। ईसा की बीसवीं सदी संसार में आ चुकी थी। वह नित्य नये नये खेल खेलने लगी। वाटरलू का जन्म-दिन भी न आने पाया, योरप में महाभारत धधक उठा। चिनगारियाँ बुझी नहीं, शान्त महासागर पर भी शान्तिपाठ बैठ गये! भारत भी उसी नवयौवना के चक्र में चढ़ गया। आह! कहीं से करुणा की साँस। यह क्या? एक सुन्दर पुस्तिका सामने आई—नाम "उच्छ्वास"।

हिन्दी की ओर देखो, आज कहाँ है? स्वामी दयानन्द का जन्म हुए सौ वर्ष होने आये। दो सौ वर्ष हुए क्या हो रहा था—नागरीदास का विवाह, उनकी पहली मनोरथों की मंजरी। वह रूपनागढ़ी घराना—सुन्दर कुँवर, छत्र कुँवर, बनी ठनी—ढूँढ़ो ब्रज में आज भी मिलेगा। पर इन दो सौ वर्षों ने क्या किया? देव की देवात्मा को कोठरी में बन्द रक्खा, देश देश में घुमाया पर ताला न खोला, पद्माकर के प्रचण्ड प्राणों को थाली का बैंगन बना डाला। आह! कुछ मत पूछो? इन दोनों सदियों की कविता भी अपने अपने रंग में मस्त है। आओ, दबे पैरों आओ। सौ सौ बरस की उत्कण्ठाएँ, सौ सौ बरस की वेदनाएँ, कल्पनाएँ—कन्नौज की ऊँची-नीची गलियों की तरह—पड़ी हुई हैं, पर सब खँडहर हैं खँडहर! आहट न हो। तुम किस स्थान पर चल रहे हो? आलमगीर की मृत्यु के बाद से यह भारत की आत्मा है। यह कैसे फड़फड़ाई, तड़पड़ाई—यह क्या कोई गद्य में कह सकता है? कोई डेढ़ सौ बरस बाद सरस्वती ने सुना। हरिश्चन्द्र और प्रतापनारायण गुलाबों की तरह तीन-तीन दिन फूल गये। आज वह खिल रहे हैं, खेल रहे हैं, नन्दनवन में। पर उनकी महक, उनका महत्व—क्या किसी अंश में यहाँ कम रह गया? उन्हें जो करना था कर गये। जो जीवन फूंकना था फूँक गये। हवा बदलनी थी बदल गए। कौन कृतघ्न कहेगा कि कराल काल के मारे वे कृतकार्य नहीं हुए? संसार में भारत की भेंट न करा दी? बीसवीं सदी का रास्ता न खोल दिया?

(४)

उच्छ्वास!—इसे अपनाओ। स्वर में प्राणायाम है। "छपी सी, पी-सी, मृदु मुसकान"—ओफ, यह इसमें कैसी? उत्तर उसी में है—सावन में मन्द मन्द, भादों में मर्म-भेदी। तत्व उसी में है।

अश्रुओं में रहता है हास
हास में अश्रुकणों का भास।
श्वास में छिपा हुआ उच्छ्वास
और उच्छ्वासों में ही श्वास।

इधर जल, उधर थल, झड़ी लगी हुई है, बबूले उठ रहे हैं, गगन की धाराएँ दिव्य दाराएँ बन बन सविता और समीर के सहारे नई-नई कलाएँ दिखा रही हैं। यही सावन-भादों इस दिल्ली के महल में पैठकर बैठने को मिलता है। सावन में झिमिक झिमिक बुन्दन को दुन्द, हरियर भूमि कुसुम्भी चोला, हृदय हिंडोले सा डोलता है, संसार स्नेहमय संयोग-मय है। भादों में मूसलाधार हाहाकार, झनझनाता हुआ अंधकार, बरसै मघा झकोर झकोरी, "पूरबा लाग भूमि जल पूरी। आक जवास भई हौं झूरी" "कहो कुसुम्भी सारी रँगवाँ कहो तो भगवा भेस," वसुधा विषादमय, वियोगमय, स्नेह की ज्योति पर अकरुण आघात हो जाता है। सावन में सुवर्णमयी सुखमा, प्रकृति का "चकाचक चित्र", स्वर्गीय प्रकाश, वह मीठा मीठा दुख जो सच्चे सुखियों की पहचान है, वह मोदभरी अँखियाँ भरि लीनी—भादों में वह गंभीर गरज वह हंस की नाईं उड़ान, वह भूगर्भ-भेदी वज्रपात, वह दुखमयी उमड़ और उभाड़ जो सच्चे दुखियों का जीवन प्राण है। इन्हीं दोनों डोरियों पर यह खंड-काव्य, झूल रहा है, इन्हीं दोनों खंडों से वह पावस का प्रासाद खड़ा किये हुए है। उससे देखिए—प्रकृति कैसी है, पुरुष कैसा है—झलक आ ही जाती है। दामिनी दमक ही जाती है। अनुमान तड़प ही जाता है।

सुनिए, इस सुनहले सावन का कुछ चमत्कार।

पावस ऋतु थी पर्वत-प्रदेश
पल पल परिवर्तित प्रकृति-वेश।
मेखलाकार पर्वत-अपार
अपने सहस्र दृग सुमन फाड़
अवलोक रहा है बार बार
नीचे जल में निज महाकार।
—जिसके चरणों में पला ताल
दर्पण सा फैला है विशाल!

गिरि का गौरव गाकर झर झर
मद से नस नस उत्तेजित कर।
मोती की लड़ियों से सुन्दर
झरते हैं झाग भरे निर्झर।
गिरिवर के उर से उठ उठ कर
उच्चाकांक्षाओं से तरुवर।
हैं झाँक रहे नीरव-नभ पर
अनिमेष, अटल, कुछ चिन्ता पर!
—उड़ गया अचानक लो भूधर
फड़का अपार पारद के पर!
रव शेष रह गये हैं निर्झर!
है टूट पड़ा भू पर अम्बर!
धँस गये धरा में सभय शाल!
उठ रहा धुँआ, जल गया ताल!
यों जलदयान में विचर विचर
था इन्द्र खेलता इन्द्रजाल!

(वह सरला उस गिरि को कहती थी बादल घर)

कल्पतरु में उपमा है "रसवन्त कवित्तन को रस ज्यों अखरान के ऊपर ह्वै छलकै।" सारी धरा के भूधरराट् के इस वर्णन में अक्षर अक्षर अपने स्थान में अनिमेष खड़ा हुआ है —टस से मस नहीं हो सकता। यह किस जादू के जोर से, किस मन्त्र-बल से? इस पहाड़ी कवि की प्रतिभा और प्रकृति-प्रेम—इन्हों ही ने उसके हृदय पर कुछ फूंक मार दी है, इन्द्रजाल उछाल दिया है। आह! परन्तु आधा जादू। आपके सामने नहीं है। उन चमचमाती चोटियों की राशि से इस एक महाशिखर को इस लेख के लिए उखाड़ लेने से वहीं बिखर गया है। संजीवनी इस द्रोणाचल में भी है, परन्तु इस खंड-काव्य के दूसरे भी शिखर हृदय को हरा भरा कर देंगे, चूर्ण चूर्ण पिये हुए प्राणों को आत्मदान की जड़ी से कच की तरह पुनर्जन्म दे देंगे।

कवि का सन्देश, कवि का उद्देश्य क्या है? आरम्भ की सत्रह सतरें, इसी से अनोखी जगमगा रही हैं। यह कवि का पहला प्रकाश है। सरस्वती-प्रवेश की चकाचौंध है। झौर झौर की झपक है। 'उसास समीर' की उस संभव-असंभव आठों याम की विरह-विहारी प्रकृति के सौन्दर्य का कितना 'सरल और अस्फुट' उठान है! ग्रन्थ की कथा, ग्रन्थ के विषय, किस मुरली की माया में पड़ गये हैं? बाँसुरी के छिद्र से क्या स्वर बह रहे हैं? यह किस रास का रस है, किस तारे की तान है? इस देश का वह अलबेला बालापन जो दूसरे देशों के अनुभव से बाहर है, जो हिन्दू-जाति की, हिन्दू जलवायु की, हिन्दू अन्न आकाश की कन्याओं ही के ललित ललाट में है, जो 'सभ्य' संसार के कुछ सज्जन सुझाते हैं भारत के भाग्य ही में नहीं है—भारतीय स्नेह का वह अठखेलियोंवाला उल्लास।

मुरली के से सुरसीले
हैं इसके छिद्र सुरीले।
अगणित होने पर भी तो
तारों से हैं चमकीले॥
अचल हो उठते हैं चंचल—

आदि उसी स्नेह का वह गूढ़ हुलास, वह वज्र विश्वास—वह संस्कार-रहित सन्देह जो अदेह है, जो बेचारे विधना के दुलारे अनंग के लिए आज भी भोला के भाल की ज्वाला है, विरह के विहारी को, चीरों के चोर को, नंगे पैर बुलानेवाला पंचाली का चीर है—यह सब इस बाल-बादल के विचरनेवालों को हस्तामलक होता है। भादोंवाली घटाटोप की गड़गड़ाती गरगराहट में दीप के बचे विकास से भी जिन जिन गम्भीर भावों के कभी गूढ़ अनमोल दर्शन होते हैं, स्नेहभरे दीप की बची खुची दशा की टिमटिमी में भी जो जो प्रकट हो जाता है, वह प्रौढ़ता का विकास, आग का अन्तर्नयन प्रकाश मानों सामने आता है। आह! इस बदरौला की बलि का चखने चखानेवाला क्या वृन्दाबन के द्रावापुंज ही में दुरा हुआ है? नहीं, वह हृदय-हृदय में है।

कवि ने प्रकृति का क्या परिचय दिया है, प्रभाव प्रकट किया है? देखो, वहाँ इन्द्रजाल ही नहीं, चमत्कार ही नहीं, प्रेम का पुरस्कार ही नहीं, पाप का परिहार ही नहीं है।

उसकी दृष्टि करुणा के कटोरे के कटोरे पी गई है। ढाल-सा शशि खड्ग हो गया है द्यावापृथिवी का दुःख आँखों में समा गया है।

नहीं चल सकते गिरिवर राह
न रुक सकता है सौरभवाह।
सरल हो उठता उदधि अथाह
सूर का दुख देता है दाह।

क्यों? करुणाकर ने रोग का उपचार किया है या नहीं? उत्तर कवि के पास है। उसकी कविता पढ़ने वालों को उठाती है, लुभाती है, दूर ले जाती है। भाषा को वह भाव से बजाता है। संगीत को उँगलियों पर नचाता है। शब्दों को सूंघ-सूंघकर मन-माना मधु चूसता है।

यह मधुरिमा की पहली धभार है :—

मधुरिमा के मधुमास!
मेरा मधुकर का सा जीवन
कठिन कर्म है, कोमल है मन।
विपुल मृदुल सुमनों से सुरभित
विकसित है विस्तृत जग-उपवन!
यही हैं मेरे तन मन प्राण
यही हैं ध्यान, यही अभिमान
धूलि की ढेरी में अनजान
छिपे हैं मेरे मधुमय गान!
कुटिल काँटे हैं कहीं कठोर
जटिल तरु जाल हैं किसी ओर।
सुमन दल चुन चुन कर निशि भोर
खोजना है अजान वह छोर!
नवल कलिका थी वह.....

इन सतरों के लिए 'सरलता ही था उसका मन' यह कहना क्या किसी तरह अत्युक्ति हो सकता है? कवि की तोल खरी है। वह 'विकच-बचपन' कहता है, 'असीम अवसित' कहता है। 'उच्चाकांक्षाओं' कहता है, तो किस ध्वनि के लिए, किस स्वर और अर्थ की समर्थ डमरू-सम्प्रक्ति के लिए, ढूंढ़ो। ऊपर की सतरों में वह 'प्राण' क्यों कहता है, तुक की ओर और ध्यान क्यों नहीं देता, यह प्रत्यक्ष प्रमाण है। जिस देवता ने केशवाचार्य को काव्य का प्रेत कहा उसने पूरा सत्य नहीं कहा, और समय के फेर से, स्वाद के फेर से, आजकल वही प्रेत उसके पीछे कृत्या सा लगा हुआ है। श्रीहर्ष के आज़माये नुसखे का काम नहीं है। सिर को आधी रात में भिगोकर किसी को दही पीना नहीं पड़ेगा। यह 'हृदय का सुरभित साँस' है। बीसवीं सदी के विरह का प्रथम उच्छ्वास है। इस इक्कीस वर्ष की आनन्दिनी अवस्था का पहला पलाश है।

कवि से प्रयाग परिचित है, उच्छ्वास उसका पहला ग्रन्थ है। उसके शारीरिक स्वर की मधुरिमा उसमें प्रवेश नहीं कर सकती, परन्तु उसका मानसिक स्वर उसमें कूट-कूट कर भरा हुआ है। यह गद्य है, लेख है। न इसमें उस कण्ठ का मिठास लाया जा सकता है न इसमें उस कविता का अनिर्वचनीय आनन्द, उद्देश्य केवल दिग्दर्शन कराना है। जो पुस्तक पढ़ेंगे उसके वशीकरण का स्वयं अनुभव करेंगे। कवि की लेखनी पावस की ओर झुकी है। तटों का उसे इतना ध्यान नहीं है, कुछ समय होगा शरद का शशि स्वयं ही दर्शन देगा। इस उच्छ्वास के अप्रकाशित आगे के भाग "आँसू" को देखने का भी हमें सौभाग्य प्राप्त हुआ है। वह अपने टक्कर का एक ही है। कौतूहल को अपूर्व-रूप से पूर्ण करता है। कविता की अनूठी झाँकी कराता है। उदधि के गान और गगन के गान में क्या सम्बन्ध है, वे कहाँ तक भिन्न हैं, कहाँ अभिन्न हैं, वे क्या जताते हैं या दुहराते हैं, वह कोई कैसे कह सकता है? यह काम उस कल्पना ही का है जो हृदय-हृदय को देखती है, दिखा सकती है। उस प्रतिभा ही का है जो अन्तरिक्ष की सौदामिनी को पार-कर स्वर्ग सौदामिनी तक पहुँचती है।

सौदामिनी असंख्य पर
जाको अलख विलास।
अमरावती अनन्तमुख
को बरनै को हास

देवनागरी का साहित्य इस सदी में लोकपालों को जलाने-वाला स्वयंवर करेगा, यह हमारा विश्वास है। हिन्दी-दमयन्ती वहीं तक पैंग भरेगी, जहाँ तक श्रीहर्ष ने नैषध में दिखाया है, या आगे भी अग्रसर होगी—इस सदी के भविष्य में है, देवताओं की दया पर है।

१९२२

❀ ❀ ❀

डॉक्टर राजेन्द्रलाल मित्र

श्रीयुत गिरिजाशंकर वाजपेयी

डॉक्टर राजेन्द्रलाल मित्र बंगाल के उन विद्यारत्नों में गिने जाते हैं जो अपने पाण्डित्य के कारण संसार-पूज्य विद्वानों द्वारा समादृत हुए हैं। भारत के प्राचीन इतिहास के निर्माण में जो मौलिक कार्य इन्होंने किया है वह जितना विस्तृत है उतना ही महत्त्वपूर्ण है। उससे इनका नाम इस देश में सदा कृतज्ञतापूर्वक स्मरण किया जायगा। आगे इनके जीवन का संक्षिप्त परिचय दिया जाता है।

राजेन्द्र बाबू का जन्म बंगाल के एक सम्भ्रान्त कायस्थ कुल में हुआ था। इनके प्रपितामह राजा पीताम्बर मित्र मुगल सम्राट् के मन्सबदार और जागीरदार थे। ऐसे ही प्रतिष्ठित परिवार में सन् १८२४ में ये कलकत्ते के समीप सूरह नामक स्थान में उत्पन्न हुए थे। समय के फेर से इनके पिता की वैसी स्थिति नहीं रह गई थी। ये अपने छः भाइयों में सबसे छोटे थे। इनके पिता श्रीयुत जनमेजयलाल मित्र संस्कृत और फारसी के पण्डित थे। उनके समय में अँगरेजी पढ़े-लिखे लोगों की बड़ी चाह थी। अतएव उनको भी अपने पुत्रों को अँगरेजी पढ़ाने की बड़ी अभिलाषा थी, पर निर्धन होने के कारण वे अपने मनोरथ में सफल न हुए। परन्तु जब उनके छठे पुत्र राजेन्द्र बाबू पढ़ने-लिखने के योग्य हुए तब एक दिन उनकी विधवा निस्सन्तान बहन ने अपने भतीजे राजेन्द्र बाबू को अँगरेजी पढ़ाने के लिए उनसे माँगा। जनमेजय बाबू को मुँह-माँगी मिली। उन्होंने इस अवसर को हाथ से न जाने दिया और बालक राजेन्द्र अपनी बुआ के साथ अँगरेजी पढ़ने को कलकत्ते चला गया।

राजेन्द्र बाबू को विद्या-प्राप्ति का अच्छा अवसर प्राप्त हो गया था। परन्तु कुछ दिनों के बाद दुर्भाग्यवश इनकी बुआ की मृत्यु हो गई। अतएव इन्हें पढ़ना-लिखना बन्द कर देना पड़ा। ये अपने पिता के पास गाँव को फिर लौट गये। इनके पिता इन्हें पढ़ाने को विशेष रूप से उत्कण्ठित थे। क्योंकि ये विलक्षण व्युत्पन्नमति लक्षित होते थे। उनके मित्रों ने इन्हें मेडिकल कालेज में भर्ती होने की सलाह दी। गरीब विद्यार्थियों को विद्या-प्राप्ति की सुविधा उस समय केवल मेडिकल कालेज में ही थी। वहाँ शिक्षा के साथ ही छात्रवृत्ति भी मिलती थी। अतएव सन् १८३९ में ये मेडिकल कालेज में प्रवृष्ट हुए। निस्सन्देह, इनके जैसे प्रतिष्ठित घराने के लिए छात्र-वृत्ति लेकर विद्याध्ययन करना अपमानजनक था, पर इसके सिवा दूसरा कोई मार्ग भी तो नहीं था। मेडिकल स्कूल में शिक्षा ग्रहण करते समय इन्होंने प्रधान अध्यापक को देशी औषधि-पद्धति के सम्बन्ध में लाभदायक सूचनायें देकर खासी प्रशंसा प्राप्त की थी। बाबू द्वारकानाथ ठाकुर इनकी प्रतिभा से इतना अधिक चकित हो गये थे कि वे इन्हें डॉक्टरी पढ़ने के लिए विलायत भेजने को तैयार हो गये थे। परन्तु इनके पिता कट्टर हिन्दू थे। अतएव वे इन्हें विलायत भेजने को राजी न हुए।

राजेन्द्र बाबू का अध्ययन मेडिकल कालेज में अधिक समय तक न जारी रह सका। वहाँ एक विशेष घटना के संघटित हो जाने से ये भी अपराधी विद्यार्थियों के साथ कालेज से निकाल दिये गये। इनका अपराध केवल यही था कि इन्होंने अधिकारियों के समक्ष अपने सहपाठियों के विरुद्ध साक्षी न दी। मेडिकल कालेज से निकलकर ये कानून पढ़ने लगे और जब ये कानून की परीक्षा में शामिल हुए तब यहाँ भी इनका दुर्भाग्य आड़े आया। उस परीक्षा के प्रश्न-पत्र प्रकट हो गये थे। अतएव वह परीक्षा रद्दी कर दी गई। अब तक राजेन्द्र बाबू सब विघ्न-बाधाओं का सामना वीरता से करते रहे, पर इस बार वे अधिक दृढ़ न रह सके। अब ये पढ़ना-लिखना बन्द कर नौकरी की चिन्ता में लीन हुए। इस समय इनका वय केवल २२ वर्ष का था।

सौभाग्यवश राजेन्द्र बाबू को एक अच्छी नौकरी मिल गई। बंगाल की एशियाटिक सोसाइटी में एक बहु-भाषा-विद् विद्वान् की आवश्यकता थी। उस संस्था के अधिकारियों ने राजेन्द्र बाबू को सोसायटी के पुस्तकाध्यक्ष तथा सहकारी मंत्री का पद प्रदान किया। इस पद पर ये १० वर्ष तक काम करते रहे और यही इनके उत्कर्ष का द्वार हुआ। सोसायटी में रहकर इन्होंने संस्कृत, फारसी और लेटिन का भी अध्ययन किया और कामचलाऊ फ्रेंच, जर्मन तथा ग्रीक भी सीख ली। अँगरेजी तो ये अँगरेज की भाँति

बोल और लिख सकते थे। इनके सिवा ये उड़िया, हिन्दी और उर्दू आदि प्रान्तिक भाषायें भी जानते थे। बँगला तो उनकी मातृ-भाषा ही थी। इस प्रकार ये कई एक भाषाओं के पूर्ण पण्डित ही न हो गये, किन्तु अनवरत अध्ययन कर इन्होंने सोसायटी के ऐतिहासिक खोज-सम्बन्धी कार्य में भी पारदर्शिता प्राप्त कर ली।

सोसायटी में आ जाने से राजेन्द्र बाबू को अपनी प्रतिभा का परिचय देने का अच्छा अवसर मिल गया। अतएव इन्होंने अपने अध्ययन के द्वारा प्राप्त ज्ञान का सदुपयोग करना प्रारम्भ किया। सोसायटी के जर्नल में इनके निबन्ध प्रकाशित होने लगे। यहाँ तक कि अपने पद से पृथक् हो जाने पर भी ये अपने गवेषणापूर्ण पुरातत्त्व-सम्बन्धी लेख उक्त जर्नल में बराबर प्रकाशित कराते रहे। इनमें से लगभग ११४ निबन्धों का संग्रह, कई भागों में, पुस्तक रूप में प्रकाशित हुआ है। इनके सिवा इन्होंने The Antiquities of Orissa (2Vols). Bodh Gaya और Indo-Aryan (2 Vols.) नामक उत्कृष्ट ग्रन्थ लिखे। इनका मनन करने से विदित हो जाता है कि ये किस कोटि के विद्वान् थे। अगाध पाण्डित्य, गम्भीर खोज, सूक्ष्म निरीक्षण-शक्ति और गवेषणा इनके लेखों और पुस्तकों से पूर्णतया लक्षित होती है। इनकी सम्पूर्ण रचना १२८ जिल्दों में है, जिनकी पृष्ठ-संख्या ३३,००० के लगभग पहुँचती है।

राजेन्द्र बाबू के जो निबन्ध पूर्वोक्त जर्नल में प्रकाशित होते थे उनकी प्रशंसा योरपीय तथा भारतीय विद्वानों ने मुक्तकण्ठ से की है। भारतीय शिल्पकला के सम्बन्ध में जो निबन्ध तथा पुस्तकें इन्होंने समय समय पर प्रकाशित की हैं वे अनेक दृष्टियों से इनकी उत्कृष्ट रचनायें गिनी गई हैं। इन्होंने अपने विवेचना-पूर्ण लेखों में यह बात सिद्ध कर दी है कि भारतीय शिल्पकला यूनानी शिल्पकला से बिलकुल भिन्न है। इस सम्बन्ध में इनका जो विवाद विद्वद्वर फर्गुसन से वर्षों तक छिड़ा रहा उसमें इन्हीं को विजय प्राप्त हुई। फर्गुसन साहब का यह मत था कि भारतीय शिल्प-कला यूनानियों की ऋणी है, पर राजेन्द्र बाबू ने इनकी दलीलों को निस्सार प्रमाणित कर दिया।

राजेन्द्र बाबू ने पुस्तक लिखने के सिवा बौद्ध ग्रन्थों के अनुवाद तथा प्राचीन हस्त-लिखित संस्कृत-पुस्तकों की खोज का काम भी किया है। Bibliotheca Indica नाम की जो ग्रन्थमाला सोसायटी ने प्रकाशित करना प्रारम्भ की थी उसमें इनका पूरा हाथ था। उसी के लिए इन्होंने 'ललित विस्तर' का सम्पादन तथा उसके मुख्य मुख्य अंशों का अँगरेजी में अनुवाद भी किया था। 'प्रज्ञा विस्तर' नामक एक दूसरे बौद्ध ग्रन्थ का सम्पादन भी इन्होंने प्रारम्भ किया था। संस्कृत-पुस्तकों की खोज के काम में इन्होंने देश की खूब यात्रा की और इस सम्बन्ध में जो रिपोर्ट लिखी थी वह इस समय भी उपयोगी समझी जाती है।

राजेन्द्र बाबू जैसे विद्वान् और प्रतिभा सम्पन्न थे वैसे ही परिश्रमी और अध्यवसायी भी थे। एशियाटिक सोसायटी का भारी भार वहन करते समय ये अपनी मातृ-भाषा में सामयिक पत्र ही न निकालते थे, किन्तु स्वयं उनका सम्पादन भी करते थे। इन्होंने सन् १८५० में 'विविधार्थ संग्रह' नामक एक सचित्र सामयिक पत्र निकाला। यह पत्र विज्ञान तथा साहित्य-सम्बन्धी था और ७ वर्ष तक चलता रहा।

जैसा कि ऊपर लिखा गया है, राजेन्द्र बाबू १० वर्ष तक सोसायटी में रहे। इसके बाद गवर्नमेंट ने इनको सन् १८६५ में कलकत्ते के 'वार्डस् इन्स्टीटयूशन' के डायरेक्टर का पद प्रदान किया। इस संस्था में बंगाल के बड़े जमींदारों के सन्तानों को शिक्षा देने की व्यवस्था की गई थी। ये इस पद पर कई वर्ष तक कार्य करते रहे। इसी समय गवर्नमेंट ने इन्हें रायबहादुर और सी० आई० ई० की उपाधियाँ प्रदान कीं। परन्तु यह संस्था अधिक समय तक न चल सकी। जिन जमींदार बालकों की शिक्षा का प्रबन्ध उसमें किया गया था वे अध्ययन की ओर जैसा चाहिए वैसा ध्यान न देते थे। राजेन्द्र बाबू उन पर अपना प्रभाव न जमा सके और अपने रह-सहन में सर्वथा स्वतंत्र होने के कारण वे अधिकतया विलासी और उच्छृंखल हो गये। इस पर समाचार-पत्रों ने राजेन्द्र बाबू की कड़ी टीका-टिप्पणी की। इसका परिणाम यह हुआ कि उक्त संस्था तोड़ दी गई और इनको पेंशन मिल गई। इसी अवसर पर कलकत्ता विश्वविद्यालय ने इन्हें डी० एल० की डिग्री प्रदान कर सम्मानित किया। पेंशन हो जाने के कुछ समय बाद गवर्नमेंट ने इन्हें राजा की पदवी प्रदान कर ५०० रुपये मासिक की एक विशेष पेंशन नियत कर दी। इस तरह गवर्नमेंट ने इनको सब प्रकार से सम्मानित किया। कलकत्ता कार्पोरेशन का संगठन होने पर ये गवर्नमेंट द्वारा उसके सदस्य मनोनीत किये गये। ये कलकत्ता विश्वविद्यालय

के भी सदस्य थे और सेंट्रल टेक्स्ट् बुक कमेटी के सभापति की हैसियत से इन्होंने शिक्षा के सम्बन्ध में भी प्रशंसनीय कार्य किये। ये बंगाल लैंड होल्डरस् असोसियेशन के भी नेता थे। इन्होंने जमींदारों के हित के लिए भी परिश्रम के साथ काम किये। अतएव वे लोग इनका समुचित समादर करते थे। ये कांग्रेस में भी शामिल थे और इन्होंने कलकत्ते के अधिवेशन में स्वागतकारिणी सभा के सभापति की हैसियत से विवेचनापूर्ण व्याख्यान पढ़ा था। प्रसिद्ध सम्पादक कृष्टोदास पाल की मृत्यु के बाद इन्होंने 'हिन्दू पेट्रियट' का प्रबन्ध-भार अपने ऊपर ले लिया था। यही नहीं उसकी उन्नति के लिए इन्होंने अपना सारा धन लगा दिया था। इस प्रकार निरन्तर घोर परिश्रम करते रहने के कारण इनका स्वास्थ्य बिगड़ गया और सन् १८९१ में पक्षाघात से आक्रान्त होने पर इनकी मृत्यु हो गई।

यद्यपि राजेन्द्र बाबू के जीवन-काल में अनेक लोग इनके चरित्र के सम्बन्ध में प्रायः कड़ी टीका-टिप्पणी किया करते थे, तो भी लोग इन्हें विद्वान् के रूप में आदर करते थे। इनके सम्बन्ध में अध्यापक मैक्समूलर ने जो लिखा है उसका सारांश यहाँ देकर बंगाल के इस उद्भट विद्वान् का जीवन-परिचय समाप्त किया जाता है। मैक्समूलर ने लिखा है—

राजेन्द्र बाबू पण्डित तो हैं ही, पर वे विद्वान् तथा आलोचक भी हैं। उनकी आलोचना सदैव पक्षपात-रहित होती है। जातीय संस्कार के कारण उनके भारतीय इतिहास तथा साहित्य-सम्बन्धी विचार भलीभाँति भ्रम-पूर्ण नहीं हुए......पाण्डित्य के क्षेत्र में हमारे योरपीय संस्कृत-विद्वानों को उनका सामना करने के लिए घोर परिश्रम करना पड़ेगा।

१९२२

❀ ❀ ❀

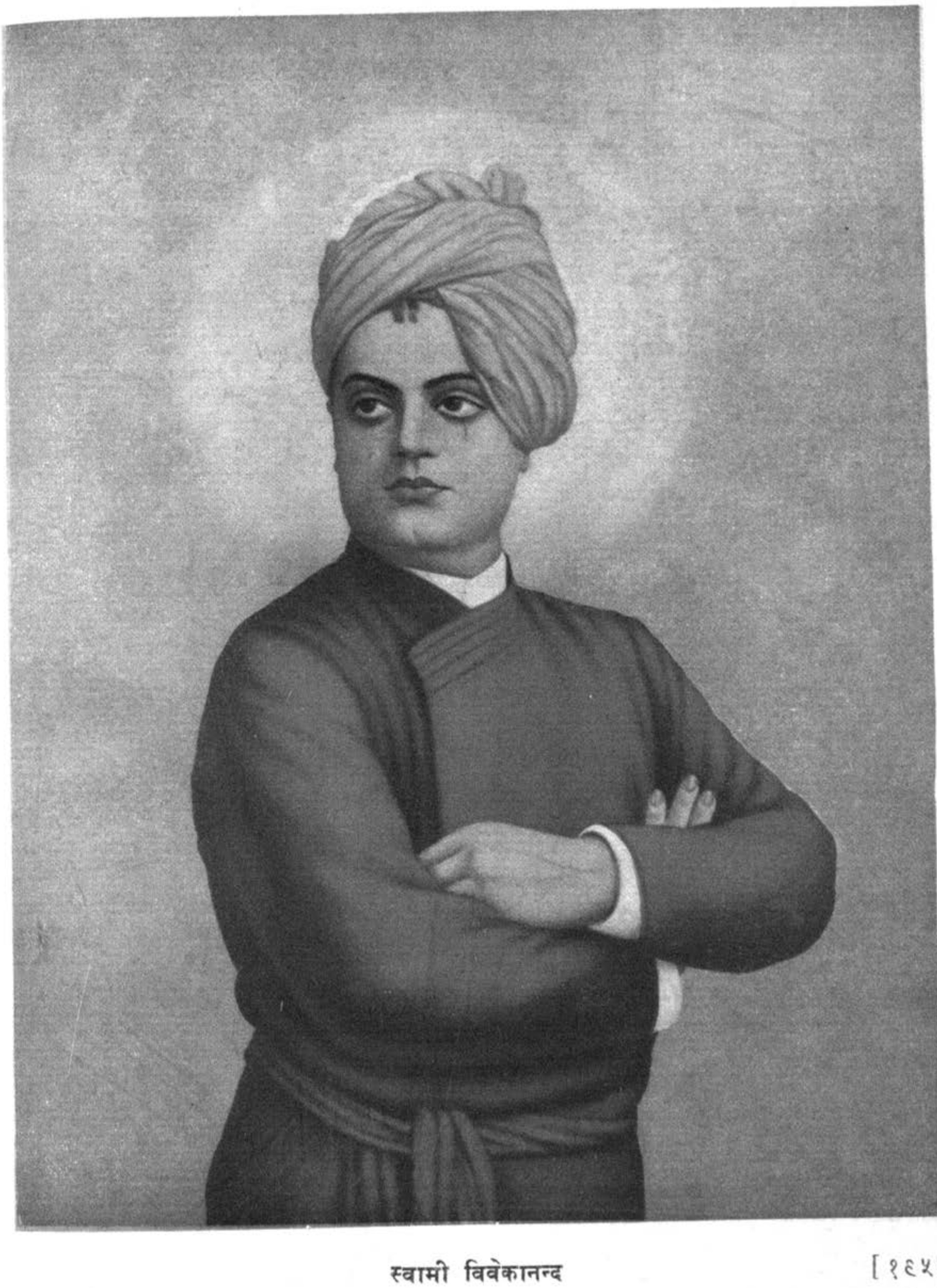
स्वर्गीय पण्डित बदरीनारायण चौधरी

श्रीयुत वियोगी हरि

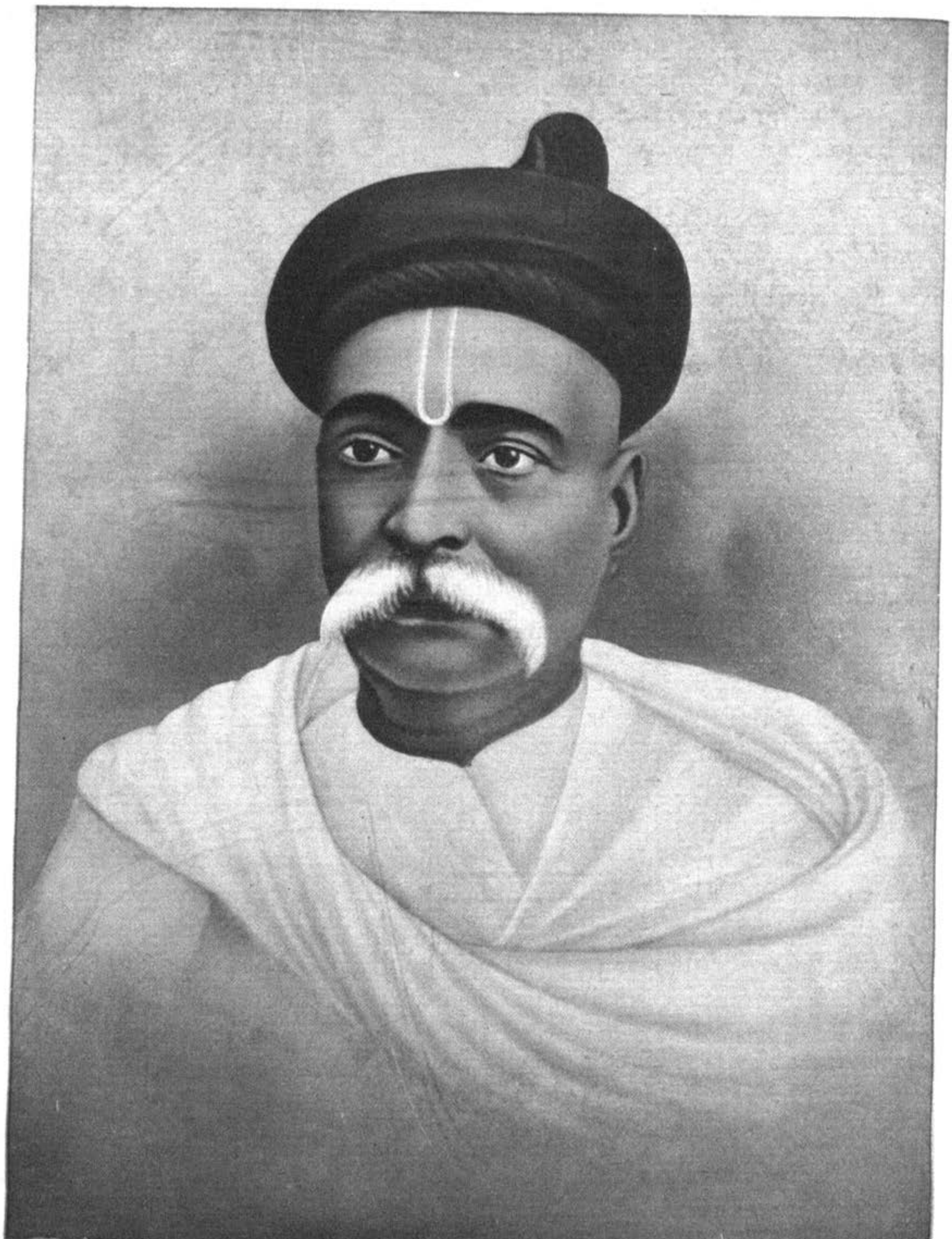
गत १४ फरवरी को हिन्दी के साहित्य-मर्मज्ञ पण्डित बदरीनारायण चौधरी का देहावसान हो गया। वे हिन्दी के सच्चे सेवक थे। उन्होंने अनेक ग्रन्थ-रत्नों की रचना की है। यहाँ उनकी रचनाओं की विस्तृत आलोचना नहीं की जा सकती। समय में लोग स्वयं उनकी सेवा की महत्ता जान लेंगे। अतएव यहाँ संक्षेप में उनका परिचयमात्र दिया जात है।

पण्डित बदरीनारायण चौधरी का जन्म संवत् १९१२ भाद्रपाद-कृष्णषष्ठी को हुआ था। वे भारद्वाज गोत्र के सरयूपारीण ब्राह्मण खोरिया उपाध्याय थे। उनके पिता पण्डित गुरुचरणलाल उपाध्याय मिरजापुर के सुप्रसिद्ध और सुप्रतिष्ठित रईस थे। पण्डित बदरीनारायणजी की सुशिक्षिता माता ने उन्हें हिन्दी के अक्षरों का अभ्यास पाँच वर्ष के पहले ही कराना प्रारम्भ कर दिया था। कुछ समय बाद, अँगरेजी पढ़ाने के लिए उनके पिता ने उन्हें गोंडा भेज दिया। गोंडे में चौधरीजी को अयोध्या-नरेश महाराज सर प्रताप-नारायणसिंह और राजा उदयनारायणसिंह के साथ रहने से अश्वारोहण तथा मृगया से प्रेम हो गया। संवत् १९२४ में वे गोंडा से आकर फैजाबाद के जिला-स्कूल में पढ़ने लगे। उसी साल समंसा, जिला जौनपुर, में उनका विवाह हुआ था।

प्रेमघनजी के पिता ने उनको संस्कृत-साहित्य पढ़ाने के लिए पण्डित रामानन्द पाठक को नियुक्त कर दिया। पाठकजी बड़े ही साहित्य-रसिक और धुरन्धर विद्वान् थे। इन्हीं के साथ चौधरीजी को कविता की ओर अनुराग उत्पन्न हो गया। कविता के साथ-साथ वे संगीत भी सीखने लगे। संवत् १९२८ में उन्होंने कलकत्ते की यात्रा की। वहाँ से लौटकर वे कई मास बीमार रहे। इस बीमारी की दशा में देश-हितैषी पण्डित इन्द्रनारायण शंगलू से उनकी घनिष्ठ मित्रता हो गयीं। अब चौधरीजी हिन्दी और उर्दू दोनों में ही कविताएँ लिखने लगे। उन्होंने उर्दू के लिए अपना नाम 'अब्र' तथा हिन्दी के लिए 'प्रेमघन' रख लिया। कविता-प्रेम इतना बढ़ा कि संवत् १९३१ में उन्होंने मिरजापुर में "रसिक-



स्वामी विवेकानन्द



लोकमान्य तिलक [१९५६

समाज" स्थापित किया और इसके बाद धीरे-धीरे कई सभायें स्थापित कीं। इसी समय भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र से उनकी मित्रता हो गयी। भारतेन्दुजी ने कविता के लिए उनको विशेष उत्साह प्रदान किया। मित्रों के आग्रह से संवत् १९३८ में उन्होंने "आनन्द-कादम्बिनी" नाम की मासिक पत्रिका निकाली और संवत् १९४९ में "नागरी-नीरद" नामक साप्ताहिक पत्र को प्रकाशित किया। इन पत्र-पत्रिकाओं में उनके सैकड़ों गद्य-पद्यात्मक लेख छपे। खेद है कि उन्होंने स्वतन्त्र-रूप से बहुत कम ग्रन्थ छपाये। साहित्य-रसिकों के बहुत अनुरोध करने पर उन्होंने 'भारत-सौभाग्य-नाटक', आर्य्याभिनन्दन', 'भारत-बधाई', 'आनन्द-अरुणोदय', 'वर्षा-विन्दु', 'प्रयाग-रामागमन', 'हार्दिक-हर्षा-दर्श', 'कजली-कादम्बिनी', 'मंगलाशा', 'शुभ-सम्मिलन काव्य', 'वसंत-मकरन्द-विन्दु', 'युगल मंगलस्तोत्र', 'संगीत-सुधा-सरोवर', 'पीयूषवर्षा', 'कलिकाल-तर्पण', 'मन की मौज' 'शोकाश्रुविन्दु', 'वृद्धविलाप-प्रहसन', 'वारांगना-रहस्य महानाटक' आदि कवितायें और लेख स्वतन्त्र रूप से प्रकाशित किये।

प्रेमघनजी, जो कुछ लिखते थे, अपनी मौज के लिए लिखते थे। 'स्वान्तःसुखाय' ही उनका कविता करने का लक्ष्य था। धन और नामवरी के लिए उन्होंने कभी एक पंक्ति नहीं लिखी। कभी-कभी उमंग में आकर वे थोड़ी ही देर में कविता लिख डालते थे, और कोई-कोई कविता अधलिखी वर्षों पड़ी रहती थी। वे सच्चे स्वतन्त्र कवि और लेखक थे। उनकी प्रतिभा बड़ी ऊँची थी। उनकी रचनाओं में, साहित्यिक चमत्कार के अतिरिक्त, धार्मिक-भाव, मातृ-भाषा-भक्ति, स्वदेश-प्रेम और रसज्ञता कूट-कूटकर भरी है। वे कविता की आदर्श-भाषा व्रज-भाषा मानते थे। खड़ी बोली में केवल "आनन्द-अरुणोदय" और "मयंकमहिमा" नामकी कविताएँ लिखी हैं। उनका आजीवन ध्येय हिन्दी-भाषा की निःस्वार्थ सेवा और साहित्य-प्रेम रहा है। हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के तृतीय अधिवेशन पर हिन्दी संसार ने उनको सम्मेलन का सभापति बनाकर अपनी कृतज्ञता प्रकट की थी। उस समय जो भाषण उन्होंने दिया था वह बड़ा ही मार्मिक है।

प्रेमघनजी 'यथानाम तथागुणः' थे। जिनको उनसे मिलने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है वे कह सकते हैं कि वे कैसे मिलनसार, साहित्य-रसिक और सच्चे देश-हितैषी थे। उनके स्वर्गवास का समाचार सुनकर किस हिन्दी-प्रेमी को दुःख न हुआ होगा। आज हिन्दी-साहित्य-संसार का एक स्तम्भ गिर पड़ा, व्रज-भाषा-गगन का एक देदीप्यमान तारा टूट गया ! आज कवि-जगत् अपने एक पथ-प्रदर्शक से वंचित हो गया ! सरस्वती का एक लाल उसकी गोद को सूना कर गया !

प्रेमघनजी की सरस रचनाओं से कुछ पद्य नीचे दिये जाते हैं—

चलिये बेगि इहाँ ते आली।
जिन कर नाहिं छड़ी ते करिहैं कहा करद करवाली॥
छमा-कवच-धारी ये विहँसत, खाय लात औ गाली॥
जिनसों सँभरि सकत नहिं तन की, धोती ढीली ढाली।
देस-प्रबन्ध करेंगे वे यह कैसी खाम खयाली॥
दास वृत्ति की चाह चहूँ दिसि चारहु बरन बढ़ाली।
करत खुशामद झूठ प्रसंसा मानहुँ बने ढफाली॥

चंचला लक्ष्मी के मुख से आप कहलाते हैं—

अबलौं रही कोऊ भाँतिन पै अब तौ रह्यो न जाई।
नाहिं गई इतसों मैं अबलौं लाख निरादर पाई।
पै अब वे खींचत निसि बासर पच्छिम को अकुलाई॥
ढोवत रेल न थकत मोहि अह सिंधु जहाज अघाई।
कल बल करि बल मोहि बुलावत तासों जात सिधाई॥

दुर्भिक्ष का कैसा सुन्दर चित्र खींचा है—

भागो भागो अब काल पड़ा है भारी।
भारत पै घेरी घटा विपत की कारी॥
हम बनिज करैं पर उलटी हानि उठावैं।
हम उद्यम करि कै लागत हूँ नहिं पावैं।
हम खेती करके बेंग बिसार गँवावैं।
औ करजा कै सरकारी जमा चुकावैं॥
है देखो हाहाकार मचो दिसि चारी।
भागो भागो अब काल पड़ा है भारी॥

स्वर्गीय दादा भाई नौरोजी के पार्लामेण्ट के मेम्बर होने पर "काले" शब्द की क्या ही अच्छी विवेचना की है—

अस बहुधा कारन के हैं आधारहि कारे।
विष्णु कृष्ण कारे कारे सेसहु जगधारे॥
कारे काम, राम, जलधर जल बरसनवारे।

कारे लागत ताही सन कारन को प्यारे॥
तासों कारे ह्वै तुम लागत औरेहु प्यारे।
यातैं नीको है तुम कारे जाहु पुकारे॥
यहै असीस देत तुम कहँ मिलि हम सब कारे।
सफल होहिं मन के सबही संकल्प तुमारे।
वे कारे घन से कारे जसुदा के बारे।
कारे मुनि जन के मन में नित विहरन हारे॥
मंगल करैं सदा भारत को सहित तुमारे।
सकल अमंगल मेटि रहैं आनँद विस्तारे॥

हिन्दी-भाषा के महत्त्व पर--

जासु बरन माला गुन खानि सकल जग जानत।
बिन गुन गाहक सुलभ निरादर मन अनुमानत॥
× × ×
बरसावत रस रती ज्ञान हरि भक्ति, धरम नित।
सिच्छा अस साहित्य-सुधा-संवाद आदि इत॥
कियो न बदन मलीन हीन बस होत निरन्तर।
रही धीरता धारि ईस इच्छा पर निरभर॥

प्रेमघनजी की एक कजली भी सुन लीजिए--

सोहै न तोके पतलून साँवर गोरवा।
कोट बूट जाकेट कमीच क्यों पहिनि बनै बैबून॥
काली सूरत पर काला कपड़ा, देत किये रँग दून।
अँगरेजी कपड़ा छोड़ह कितौ, ल्याय लगावः मुँह चून॥
चन्दन तजि मुँह ऊपर साबुन, काहे मलह दुवौ जून।
चूसह चुरट लाख पर लागत, पान बिना मुँह सून॥
अच्छर चार पढ़े अँगरेजी बनि गये अफलातून।
मिलहिं मेम तोहे कैसे जेकर फेयर फेस लाइक दी मून।
बिसकुट, केक, कहाँ तू पैबे, चायः चना भले भून
डियर प्रेमघन हियर दयाकर, गीत न गावो लेम्बून॥

मनमौजी प्रेमघनजी की मौज क्या ही मजे की है--

मन की मौज मौज सागर सी सो कैसे ठहराऊँ
जिसका वारापार नहीं उस दर्या को दिखलाऊँ?
तुमसे नाजुकदिल को भारी भौंरों में भरमाऊँ।
कहो 'प्रेमघन' मन की बातें कैसे किसे सुनाऊँ?

फिर भी, आपने अपने मन की बातें सुना ही डाली। अधिक क्या लिखें--

संपति सुजस का न अंत है विचारि देखा,
तिसके लिए क्यों सोकसिंधु अवगाहिए।
लोभ की ललक में न अभिमानियों के तुच्छ
तेवरों को देख उन्हें संकित सराहिए॥
दीन गुनी सज्जनों से निपट बिनीत बने,
प्रेमघन नित्य नाते नेह के निबाहिए।
राग रोष औरों से न हानि लाभ कुछ,
उसी नन्द के किसोर की कृपा की कोर चाहिए॥

१९२३

❀ ❀ ❀

संस्कृत-साहित्य-सेवी डाक्टर कीथ

बा० राजेश्वरप्रसादनारायण सिंह

योरप के पण्डितों ने संस्कृत की जो सेवा की है उसके लिए भारत उन विद्वानों का चिर कृतज्ञ रहेगा। उनमें मोक्ष-मूलर, सिलवन लेवी आदि पाश्चात्य पण्डितों का नाम खूब विख्यात है। हम जिन संस्कृतज्ञ साहित्य-सेवी का परिचय लिखने बैठे हैं उनसे हिन्दी के पाठक अपरिचित से हैं, क्योंकि आपकी संस्कृत साहित्यसेवा का अभी सुप्रभात ही समझना चाहिए। आपका नाम है—श्रीयुत आर्थर बेरिडेल कीथ। आपका स्वभाव बड़ा सरल, आप बड़े प्रसन्नचित्त और आपका सहवास बड़ा ही सुखप्रद है। आपका जन्म ५ एप्रिल सन् १८७९ को हुआ था। एडिनबरा में प्रारम्भिक शिक्षा समाप्त कर आपने १८९७ में आक्सफर्ड विश्वविद्यालय के बेलियल कालेज में प्रवेश किया। उन दिनों बेलियल कालेज की गणना वहाँ के उत्तम शिक्षालयों में थी। वहाँ आपने अच्छी शिक्षा प्राप्त की। छात्रावस्था में ही आप बड़े-बड़े पण्डितों की सारयुक्त समालोचनाएँ करने लगे थे। आपकी उत्कट

तर्क-युक्ति, विलक्षण प्रतिभा पर आपके शिक्षक मुग्ध रहते थे। इसी समय सन् १८९८ में आपको बोडन-संस्कृत-स्कालर्शिप मिला। उसी वर्ष आप बी० ए० की परीक्षा में भी प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण हुए। कुछ मित्रों के सत्परामर्श तथा अनुरोध से आपने एडिनबरा युनिवर्सिटी में भी बी० ए० की परीक्षा दे दी। आप यहाँ भी पास हुए। किन्तु आपकी प्रतिभा का वेग यहाँ आकर कम नहीं हुआ, बरन समय पाकर वह और भी प्रबल हो उठा। तदनुसार आपने १९०५ में बैचलर आव् सिविल ला और १९११ में डाक्टर आव्-सिविल ला की डिग्रियाँ प्राप्त कीं। इनके सिवा आपको सान मेडल, फर्गुसन-स्कालर्शिप आदि छात्रवृत्तियाँ भी प्राप्त हुईं। आपने होम सिविल सर्विस और इंडियन सिविल सर्विस की परीक्षायें दीं और आप दोनों में प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण हुए।

सन् १९०१ में कीथ साहब उपनिवेश विभाग में प्रविष्ट हुए। वहाँ आपको कितनी ही बार कठिन से कठिन तथा महत्त्वपूर्ण कार्य सौंपे गये। उन्हें आपने अपनी अद्भुत कार्य-पटुता तथा कार्यक्षमता द्वारा निबाहा। अलास्का की सीमा-पंचायत के सम्बन्ध में प्रशंसनीय कार्य करने के कारण ब्रिटिश एजेन्ट ने आपकी भूरि-भूरि प्रशंसा की थी। १९०३ से १९०५ तक आप सेक्रेटरी टू दी क्राउन, एजेन्ट्स् फार दी कालनीज रहे। तदुपरान्त उपनिवेश विभाग के भिन्न-भिन्न पदों पर रहकर आपने अनेक प्रशंसनीय कार्य किये।

१९१० में कीथ साहब सेक्रेटरी टू दी इम्पीरियल कापीराइट कान्फ्रेंस और जूनियर असिस्टेंट टू दी इंपीरियल कान्फ्रेंस नियुक्त हुए। १९११ में आपको कारोनेशन मेडल मिला और १९१२ में आप पर्मनेंट अंडर सेक्रेटरी आव् स्टेट फार दी कालनीज के प्राइवेट सेक्रेटरी मुकर्रर हुए।

सन् १९०७-८ में जब प्रोफेसर मैकडानल भारत-भ्रमण को आये तब डाक्टर कीथ बॉडन प्रोफेसर आव् संस्कृत के डिपुटी नियुक्त हुए। १९१५ में जब एडिनबरा युनिवर्सिटी के अध्यापक एजर्लिंग ने योरप के लिए प्रयाण किया तब आप ही उनकी जगह पर अध्यापक चुने गये। आपने उपनिवेश आफिस से इस्तीफा देकर उपर्युक्त पद सहर्ष स्वीकार कर लिया। यह आपके साहित्य-प्रेम का परिचायक है। आफिस के कामों से अवकाश पाकर अब आपका सारा समय संस्कृत तथा अन्यान्य भाषाओं के पठन-पाठन में व्यतीत होने लगा।

१९०४ में डाक्टर कीथ ने संस्कृत और प्राकृत भाषाओं की हस्तलिखित पुस्तकों का एक सूचीपत्र तैयार किया। इसका प्रकाशन आक्सफर्ड के इन्डियन इन्स्टीट्यूट ने किया। १९०६ में आपका लिखा हुआ दी कैटलाग आव् संस्कृत मैन्यूस्क्रिप्ट को बाडलेन लाइब्रेरी ने छपाया। ये दोनों सूचियाँ आपके संस्कृत तथा प्राकृत भाषा ज्ञान की द्योतक हैं। संस्कृत और प्राकृत में खोज करनेवालों के लिए ये दोनों पुस्तकें बड़े काम की हैं।

कीथ महोदय के उपादेय ग्रन्थ स्टेट सक्सेशन इन इन्टर-नेशनल ला सन् १९०७ में और सांख्य का अनुवाद, सन् १९०९ में प्रकाशित हुए। १९०९ में ही आपने उपनिवेशों में उत्तरदायित्वपूर्ण शासन पर अपनी पुस्तक प्रकाशित की। यह ग्रन्थ तीन बड़े-बड़े भागों में समाप्त हुआ। इसकी उपयोगिता तो इसीसे सिद्ध होगी कि केवल इसी पुस्तक की रचना पर आक्सफर्ड यूनिवर्सिटी ने, सन् १९११ में, आपको डाक्टर इन सिविल ला की डिग्री प्रदान की थी।

सन् १९१० में आलोचनात्मक नोट, अनुवाद और परिचय के साथ डाक्टर कीथ ने ऐतरेय, आरण्यक तथा सप्लीमेन्ट टू यूफेटस् कैटलाग आव संस्कृत मैन्युस्क्रिप्ट इन दि बाडलेन लाइब्रेरी नाम की पुस्तिकाएँ छपाईं। १९११ में डाक्टर साहब ने अध्यापक मेकडानल को वैदिक इन्डेक्स आव् नेम्स एण्ड सब्जेक्टस नामक ग्रन्थ लिखने में बड़ी सहायता दी। १९१७ में आपने अपना सर्वोत्कृष्ट तथा वृहत् ग्रन्थ तैत्तिरीय संहिता की रचना की। यह संस्कृत की मूल पुस्तक का अँगरेजी में अनुवाद है तथा दो भागों में समाप्त हुआ है। हारवर्ड ओरियन्टल सीरीज में यह छपा है।

१९१६ में डाक्टर कीथ ने इम्पीरियल यूनिटी ऐण्ड डोमिनियंस और १९१८ में वर्ल्डस क्लासिक्स आदि अन्यान्य महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ प्रकाशित किये। आजकल आप हिन्दू दर्शन शास्त्र पर मनोमोहक तथा छोटी-छोटी पुस्तकें लिख रहे हैं। १९२१ में आपने कर्म मीमांसा पर अपनी सुन्दर पुस्तक प्रकाशित की।

डाक्टर कीथ कितनी ही समाजों के सभासद् हैं। दी इन्टरनेशनल कालोनियल इन्स्टीट्यूट, दी रायल एशियाटिक

सुसाइटी आव् ग्रेट ब्रिटेन एण्ड आयर्लैंड, दी हेलेंटिक एफ्रिकन हार्डविक सुसाइटीज और अमेरिकन एण्ड जर्मन ओरियन्टल सुसाइटी के आप योग्य सभासद् हैं।

डाक्टर कीथ ने भारतीय न्याय तथा परमाणु-शास्त्र नामक एक नवीन रचना प्रकाशित की है। यह पुस्तक बड़ी खोज के बाद लिखी गयी है और उस विषय के ज्ञानलिप्सु जनों के लिए बड़े ही काम की है।

बस, यही डाक्टर महोदय का संक्षिप्त परिचय है।

१९२४

❀ ❀ ❀

भारत का वाणिज्य और वणिक-समाज

पं० गंगाप्रसाद अग्निहोत्री

वाणिज्यं श्रयते लक्ष्मीः

जो देश जब कभी उन्नत और श्री-सम्पन्न हुआ है तब वह अपने देश के वाणिज्य के आश्रय से ही वैसा हुआ है। वाणिज्य के इस रहस्य को भारत का वर्तमान वणिक् समाज भले ही न जानता हो या जान बूझकर उसकी उपेक्षा करता हो, किन्तु भारत के प्राचीन आर्य विद्वान् वाणिज्य के इस तत्त्व को अवश्य ही जानते थे। तभी तो उन लोगों ने यह नियम बना रक्खा था कि जो वाणिज्य द्वारा धनोपार्जन करे उसे वाणिज्य की वस्तुएँ पैदा करने वालों की भी रक्षा और उन्नति करते रहना चाहिए। उसके ऐसा न करने से सम्भव है कि वाणिज्य की वस्तुओं का ह्रास हो जाय और उस कारण देश को क्षतिग्रस्त होना पड़े। भारत को जिस अनिष्ट से बचाने के लिए भारत के आर्य विद्वानों ने वह नियम बनाया था, वणिक्-समाज की व्यक्तिगत स्वार्थपरता तथा तज्जन्य अज्ञानता के कारण उस नियम की आज दिन, उस समाज द्वारा पराकाष्ठा की उपेक्षा और अवहेलना की जा रही है। उसका भीषण परिणाम भी भारत को गारत करने की सूचना दे रहा है। पर भारत के वर्तमान वणिक-समाज का स्वार्थ उसे, उस ओर ध्यान देने का अवकाश ही नहीं देता, भारत का वर्तमान वणिक् समाज अपने को अपने वाणिज्य व्यवसाय में इस प्रकार व्यस्त देखकर ही अपने को धन्य और कृतकृत्य मानता है। उसे अपने तथा अपने बाल-बच्चों और देश के भविष्य की बिन्दु-मात्र भी चिन्ता नहीं है। वह अपने वर्तमान विभव के विस्तार को स्थायी और निश्चल मानकर भावी की अणुमात्र भी चिन्ता करना व्यर्थ समझता है या यों कह लीजिए कि विद्या से उसका किसी से सम्बन्ध न होने के कारण भावी की बातें उसकी समझ में ही नहीं आती।

भारत की भलाई को सोच कर भारत के आर्य विद्वानों ने यह नियम बनाया था कि जो जन वाणिज्य करे उसे उसके साथ-साथ भारत की कृषि तथा गोवंश की रक्षा और वृद्धि भी करते रहना चाहिए। यथा "कृषिगोरक्षावाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम्।" इस नियम का सरलार्थ यही है कि वाणिज्य की सब चीजें कृषि द्वारा गोवंश की सहायता से उत्पन्न की जाती हैं। जब वे प्रचुर मात्रा में पैदा की जायँगी तभी देश के लोगों की माँग को पूरा कर सकेंगी और विदेश को भेजने के लिए मिल सकेंगी। सरस्वती के विज्ञपाठक, तनिक सा ही विचार करने से इस नियम की दूरदर्शिता का अनुभव कर सकते हैं। जिन विद्वानों ने भारत की निरन्तर की भलाई को सोचकर उक्त नियम बनाया था उनकी बुद्धि की जितनी प्रशंसा की जाय, उतनी ही आजकल के वणिक्-समाज की उसकी अवहेलना और उपेक्षा करने के ही कारण निन्दा की जानी चाहिए। क्योंकि आज-कल का वणिक्-समाज भारत की उद्भिज वस्तुओं को आँख मूँद कर, अपने वाणिज्य द्वारा व्यय कर रहा है। उसे उनके पैदा करने की तनिक भी चिन्ता नहीं है। आजकल के भारत के वणिक्-समाज ने अपने मोह की मात्रा को चरम सीमा को पहुँचा दिया है। बम्बई और कलकत्ता में बसनेवाला वणिक्-समाज अपने रहने के लिए उन नगरों में लाखों की कौन कहे करोड़ों रुपया खर्च करके बड़े-बड़े प्रासादसम भवन बनवाता है, उन्हें उतना ही रुपया खर्च करके आमोद-

प्रमोद की सामग्री से सुसज्जित करता है, पर उसे अपने उतने बड़े महल में एक गौ को रखने का स्थान बनाने की नहीं सूझती। उसे यह नहीं मालूम कि संसार की सब खाद्य वस्तुओं में अलग-अलग जो पोषक तत्त्व हैं, वे सब गौ के शुद्ध दूध में ईश्वर ने एकत्र कर दिये हैं। गौ की इसी लोकोत्तरता पर मुग्ध होकर यहाँ के विद्वानों ने उसकी रक्षा का विधान किया है। इस बात को भुलाकर आजकल का वणिक् समाज, पिंजरापोल में रक्खी हुई लंगड़ी, लूली, अन्धी, कानी और बाँझ गौओं को थोड़ी-सी घास देकर अपने को कृतकृत्य मान लेता है। कहीं पारावार है इस मोह का, इस अज्ञता का, इस वर्तमान स्वार्थपरता का। जब भारत का वर्तमान वणिक्-समाज अपनी निज की स्वास्थ्य रक्षा करनेवाली, अमृत समान दूध देनेवाली गौओं की इस प्रकार उपेक्षा करता है तब कृषि की उन्नति के अभिप्राय से उनकी रक्षा और वृद्धि करने की बात उसे कैसे सूझ सकती है। जिन गौओं को ग्वाले लोग अपने स्वार्थवश घोड़ों की लीद खिलाते हैं और उनके दूध में तीन चौथाई से कुछ कम पानी मिलाकर बेचते हैं, उस दूध को पीकर कलकत्ता, बम्बई, नागपुर और जबलपुर आदि का वणिक्-समाज अपने को कृतकृत्य मानता है। वह यह समझता है कि जहाँ हजारों, नहीं लाखों मनुष्यों को उक्त प्रकार के दूध देखने को नहीं मिलता वहाँ, उनको उक्त प्रकार के दूध का यथेष्ट मात्रा में मिल जाना उसके लिए कम सौभाग्य की बात नहीं है। बलिहारी है इस समझ की।

भारत के कलकत्ता, बम्बई, कराँची, कानपुर, जबलपुर, नागपुर आदि बड़े-बड़े नगरों में बस कर जो वणिक्-समाज गेहूँ, अलसी, चना, तिली, रमतिली, मसूर, कपास, गुड़, शक्कर, सन, सूत, कपड़ा आदि का वाणिज्य और दलाली करके धन-कुबेर बना है और बनता जाता है उसे क्या यह मालूम है कि उसके वाणिज्य की उक्त चीजों की जितनी उपज आज से बीस वर्ष पहले होती थी उतनी अब नहीं होती। इस कम उपज का थोड़ा बहुत हाल उसे अवश्य ही मालूम होगा। क्योंकि पहले जिस प्रान्त से उसे जितना माल मिलता था, उतना अब नहीं मिलता। इस कम माल मिलने का कारण सम्भव है, उन्हें न मालूम हो। क्योंकि इसे सोचने, समझने और ढूंढ़ने की न तो उसे चिन्ता ही है और न उसकी उसे आवश्यकता ही बोध होती है। कहना नहीं होगा कि यह उसकी साहित्य-विमुखता का परिणाम है। वह रात-दिन माल की खरीद-फरोख्त में लगा रहने के कारण ही अपने को धन्य मानता है। माल कम आवे, घटिया आवे, जैसा आवे वैसा ले-देकर उसे टके बनाने की ही चिन्ता रहती है। माल कम आता है तो क्यों, और घटिया आता है तो क्यों, यह बात न तो उसे स्वार्थपरतावश स्वयं सूझती है और जब कोई उसे उस बात को सुझाने का यत्न करता है तब वह अपनी धनाढ्यता और अज्ञता के कारण कोरा जवाब दे देता है कि हमें कृषि की ओर ध्यान देने की आवश्यकता नहीं है। हम तो व्यापारी हैं।

ईस्ट इंडिया कम्पनी वाणिज्य के उद्देश्य से भारत में आयी थी। उसके यहाँ के कर्मचारियों ने जब इँग्लैंड में अपने मालिकों को लिखा कि भारत में, एक स्थान से दूसरे स्थान को सुगमता से वाणिज्य-सामग्री पहुँचाने के लिए मार्ग नहीं हैं तब उन लोगों ने शीघ्र ही, कम्पनी बनाकर करोड़ों रुपया एकत्र कर उसे मार्ग बनाने के लिए भारत में भेज दिया। उसी रुपये से भारत में प्रथम बम्बई से कल्यान तक रेल बनायी गयी। एक वणिक्-समाज वह भी था और है। एक भारत का वणिक्-समाज है जो कहता है, हमसे और किसानों से क्या सम्बन्ध है। ईस्ट-इंडिया कम्पनी के लोगों को क्या जरूरत पड़ी थी कि वे सात समुद्र और तेरह नदियों के पार भारत में रेल बनाने के लिए रुपया भेजते।

योरप और अमरीका के वणिक्-समाज की सहायता से उन देशों की किसानी ने बहुत उन्नति की है—भारत का किसान एक एकड़ धरती में एक सौ पौंड गेहूँ बोता है और बड़ी कठिनाई से छः सौ पौंड उपज पाता है। योरप और अमरीका के किसान एक एकड़ में एक सौ पौंड या उससे कम गेहूँ बोता है और वह उससे बत्तीस सौ पौंड गेहूँ पाता है। वह सब उस देश में तभी हुआ है अब वहाँके वणिक्-समाज ने अपने देश की किसानी और गौओं की रक्षा और उन्नति करने के लिए लाखों नहीं करोड़ों का दान दिया है। सुनते हैं, अकेले कारनेगी ने अमरीका की कृषि को उन्नत करने के लिए अठारह करोड़ रुपयों का दान दिया था।

आज दिन अमरीका के किसानों के पास ऐसी गौएँ हैं जो प्रतिदिन पच्चीस-तीस सेर दूध देती हैं। ऐसी गौओं की संख्या बढ़ाने में वहाँ का वणिक्-समाज खूब रुपया खर्च करता है। ऐसी गौओं की संख्या वहाँ आज दिन दो करोड़ के ऊपर है। कलकत्ते और बम्बई में जिन लोगों ने पिंजरापोल खोल रक्खे हैं वे समझते हैं कि यह कसाइयों के हाथों से

थोड़ी-सी गौओं की रक्षा करना, और उन्हें थोड़ी-सी घास रोज खिला देना ही गौ-रक्षा है। किसी अंश में यह गौ-रक्षा अवश्य है। पर सच्ची गौ-रक्षा वह कदापि नहीं है। सच्ची गौ-रक्षा उसी का नाम है जिससे भारत में अधिक से अधिक दूध और मक्खन देनेवाली गौओं की संख्या बढ़ायी जाती है, किसानों के लिए अच्छे-अच्छे बड़े-बड़े सुन्दर सुडौल और हृष्ट-पुष्ट बैल पैदा किये जा सकते हैं। वैसी ही गौओं की रक्षा और वृद्धि करने के लिए श्रीकृष्ण परमात्मा ने अर्जुन से रण-क्षेत्र में कहा था। खड़े होने पर भी रण-क्षेत्र में श्रीकृष्ण को भारत की कृषि, गौ और वाणिज्य की चिन्ता थी। भारत के वर्तमान वणिक्-समाज को सानन्द आमोद-प्रमोद के साथ दिन बिताते हुए भी उनकी चिन्ता नहीं है।

योरप और अमरीका के कृषि-विज्ञान ने यह बात प्रमाणित कर दी है कि जो लोग अपने देश के कच्चे माल को विदेश भेजते हैं वे लोग अपने देश की किसानी की उपज घटाने का घोर पाप करते हैं। इस पाप का मार्जन तभी हो सकता है जब वे लोग किसानी की उपज बढ़ाने का प्रबन्ध कर देवें। अपने पाप का पर्याप्त मार्जन करने के लिए वहाँ के वणिक्-समाज ने अपने-अपने प्रान्त में कृषि-शिक्षा देने के लिए अनेक कृषि-शालायें, कृषि-विद्यापीठ और कृषि-प्रयोग-शालाएँ खोल रखी हैं, उनमें हजारों कृषक कृषि की शिक्षा पाते हैं। वहाँ के वणिक्-समाज की कृपा से वहाँ नित कृषि-यन्त्र बनता जाता है और उसका प्रचार किसान-किसान में किया जाता है।

भारत के सच्चे हितैषी, पूज्यपाद मालवीयजी ने पुण्य-क्षेत्र काशीजी में हिन्दू-विश्वविद्यालय खोल दिया है। उसमें, हमने सुना है, कृषि-विज्ञान की शिक्षा देने का भी मालवीय जी ने प्रबन्ध कर दिया है। आप जैसे प्रज्ञ से इस अत्यन्त आवश्यक विषय की उपेक्षा कैसे की जा सकती है। हमने यह भी सुना है धनाभाव के कारण वहाँ अभी कृषि-शिक्षा का प्रबन्ध यथोचित रूप से नहीं किया जा सका। भारत के वणिक्-समाज का यह परम पुनीत कर्त्तव्य है कि वह अपने घोर पाप का प्रायश्चित करने के लिए काशीधाम के हिन्दू विश्वविद्यालय को करोड़ों का नहीं तो लाखों का ही दान देकर वहाँ कृषि-शिक्षा का समुचित प्रबन्ध करा दे।

भारत के वणिक्-समाज को भारत के किसानों में कृषि-विज्ञान का प्रचार करने के लिए कृषि-साहित्य को भी उत्पन्न करने में सहायता देनी चाहिए। जब भारत में किसान-किसान में कृषि-विज्ञान के स्थूल-स्थूल सिद्धान्तों का प्रचार हो जायगा तभी भारत की किसानी की उपज बढ़ेगी, तभी भारत में सच्ची गोरक्षा होगी और तभी उन सबकी रक्षा और वृद्धि से भारत श्री-सम्पन्न होगा। गोरक्षा के नाम से थोड़ी खबरें अखबारों में छपवा देने से न सच्ची गोरक्षा होगी और न उससे भारत की भलाई होगी। भारत की भलाई तो तभी होगी जब भगवान् श्रीकृष्ण के उपदेश के अनुसार भारत का वणिक्-समाज भारत की कृषि और गौओं की सच्ची और पर्याप्त रक्षा और उन्नति करेगा। ईश्वर भारत के वणिक्-समाज को अपनी, अपने बाल-बच्चों तथा भारत की सच्ची उन्नति करने की सुमति देवें, यही हमारी उससे आन्तरिक प्रार्थना है।

१९२४

❀ ❀ ❀

पण्डित अमृतलाल चक्रवर्ती

श्री शिवपूजन सहाय

वंगभूमि वास्तव में साहित्य की रंगभूमि है। यहाँ अच्छे से अच्छे साहित्यिक और ललित कलाओं के पण्डित हैं। सभी भाषाओं के साहित्य में यहाँ के विद्वानों का प्रवेश हो चुका है। हिन्दी की सेवा के लिए अनेक बंगाली सज्जनों के नाम स्मरण किये जा सकते हैं। "सरस्वती" और "हिन्दी-वंगवासी" के मालिक बंगाली ही हैं। इनकी स्तुत्य सेवा चिरस्मरणीय है। स्वर्गीय शारदाचरण मित्र एम० ए०, बी० एल्० की "एक-लिपि-विस्तार परिषद्" और "देव-नागर" मासिक पत्र को हम हिन्दीवाले कभी नहीं भूल सकते। सबसे पुराने हिन्दी-प्रेमी बंगाली स्वर्गीय बाबू नवीन चन्द्र

राय और सम्भवतः उन्हीं की विदुषी पुत्री श्रीमती हेमन्त-कुमारी चौधरी को हिन्दी-संसार अच्छी तरह जानता है। हाँ, एक और हिन्दीप्रेमी वंगमहिला हैं, जिनका शुभ नाम है श्रीमती हेमन्तकुमारी देवी (भट्टाचार्य)। आप हिन्दी में कई पुस्तकें लिख चुकी हैं और कई हिन्दी-लेख लिखकर बड़े-बड़े पुरस्कार भी पा चुकी हैं। इनके सिवा, और भी कई बंगाली सज्जन हैं, जिनका हिन्दी-अनुराग अभिनन्दनीय है। स्वर्गीय बाबू गिरिजाकुमार घोष का नाम हिन्दी-साहित्य में अमर हो चुका है। इस समय भी "उद्भ्रान्त प्रेम" के प्रथम हिन्दी-अनुवादक बाबू द्वारकानाथ मैत्र और कई हिन्दी-पुस्तकों के लेखक बाबू कार्त्तिकेयचरण मुखोपाध्याय आदि हिन्दी-भक्त बंगाली वर्तमान हैं। 'सरस्वती' के पाठक बाबू नलिनीमोहन सान्याल से खूब परिचित हैं। आप भाषा-विज्ञान के पण्डित और हिन्दी के प्रथम एम० ए० हैं। इसी प्रकार और भी कितने ही हिन्दी-प्रेमी बंगाली हैं, जो अवसर और प्रोत्साहन न मिलने के कारण ही नहीं उभड़ते। सुनते हैं, कवीन्द्र रवीन्द्र भी हिन्दी के महाकवि कबीरदास की रचनाओं के बड़े प्रेमी हैं। नाटकाचार्य्य स्वर्गीय द्विजेन्द्रलाल राय के सुपुत्र संगीताचार्य्य दिलीपकुमार राय मीराबाई के पद गाते गाते प्रेम से झूमने लग जाते हैं, यह बात कलकत्ते की गत हिन्दू-महासभा में असंख्य हिन्दी-प्रेमी देख चुके हैं। कलकत्ते में गत तुलसी-जयन्ती के अवसर पर श्री गोविन्दलाल बन्द्योपाध्याय नाम के एक बंगाली सज्जन ने तुलसीदास पर हिन्दी में भाषण करते हुए अपूर्व भक्तिरस बरसाया था। उन्होंने उक्त अवसर पर अपनी एक "उक्ति-कुसुमांजलि" नामक पुस्तक भी बाँटी थी। उसमें हिन्दी के भक्त कवियों के चुने हुए ३०० दोहे सटीक संगृहीत हैं। तात्पर्य यह कि बंगाली भाइयों को यदि हिन्दी के अमूल्य रत्नों से परिचित कराया जाय, तो वे इतने भावुक साहित्यिक हैं कि और और प्रान्तवालों की अपेक्षा शीघ्र हिन्दी की ओर आकृष्ट हो सकते हैं।

पूर्वोक्त हिन्दी-लेखक और हिन्दी-प्रेमी बंगाली सज्जनों में हम एक ऐसे व्यक्ति का नाम छोड़ आये हैं जिन्होंने हिन्दी की सेवा में ही अपना सारा जीवन व्यतीत किया है और आज भी सुदूर बंगाल की देहात में निवास करते हुए बड़ी लगन से हिन्दी की सेवा कर रहे हैं। आप ही हैं पण्डित अमृतलाल चक्रवर्ती, जो इस साल के सोलहवें अखिल भारतवर्षीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन (वृन्दावन) के अध्यक्ष मनोनीत हुए हैं। निस्सन्देह यह आपकी सुदीर्घकालव्यापी हिन्दी-सेवा का अतीव उपयुक्त पुरस्कार है। आपने ब्रजभाषा की मधुरता पर मुग्ध होकर ही हिन्दी सीखना आरम्भ किया था और आज भी हिन्दी-लेख लिखते समय आप अपनी सारी चिन्ताएँ भूल जाते हैं। आप स्पष्ट कहा करते हैं कि अपनी शोचनीय आर्थिक अवस्था में भी हम हिन्दी लिख पढ़कर ही सन्तुष्ट रहा करते हैं। कई बार हिन्दी लिखने-पढ़ने का लोभ संवरण न कर सकने के कारण ही आपने अच्छी से अच्छी नौकरी छोड़ दी है। जिस समय सन् १९१३ में, ब्यावर (राजपूताना) के सेठ दामोदरदास राठी की मिल में आप १५०) पा रहे थे, उस समय सेठजी आपको ८००) मासिक पर मिल का मैनेजर बनाना चाहते थे; पर आप हिन्दी लिखने के लिए इतने व्याकुल हो उठे कि वैसी अच्छी नौकरी छोड़कर 'श्री वेंकटेश्वर समाचार' का सम्पादन करने के लिये बम्बई चले गये। सेठजी ने वहाँ तक पीछा किया। पर आपने यही कह कर पिण्ड छुड़ाया कि हिन्दी से अलग रहा नहीं जाता। पहले-पहल सन् १८८४ में आपने हिन्दी के क्षेत्र में प्रवेश किया था। उस समय इलाहाबाद हाईकोर्ट में ४०) मासिक वेतन पर आप पबलिक प्रासिक्यूटर का ब्रीफ तैयार करते थे। वहीं 'प्रयाग-समाचार' के सम्पादक पण्डित देवकीनन्दन त्रिपाठी ने आपको हिन्दी लिखने के लिए उत्साहित किया। जैसी हिन्दी आप बोलते थे, वैसी ही लिखने लगे। अभ्यास बढ़ता गया, चस्का लग गया, खूब लिखने लग गये, धड़ल्ले से बोलने भी लगे। उन्हीं दिनों प्रयाग में एक हिन्दू-सभा थी, जिसके सभापति थे म्योर सेण्ट्रल कालेज के संस्कृत-प्रोफ़ेसर पण्डित आदित्य-राम भट्टाचार्य एम० ए०, और सदस्य थे माननीय माल-वीय जी आदि। उसी सभा के वार्षिकोत्सव में कालाकाँकर के स्वर्गीय राजा रामपालसिंह जी आपका ओजस्वी हिन्दी भाषण सुनकर अत्यन्त प्रसन्न हुए। सन् १८८५ में १००) पर आप राजा साहब के यहाँ नियुक्त हुए। पर हिन्दी का वियोग फिर अखरने लगा। सन् १८८६ में आप अपने घर आये और वहाँ से कई बार बुलाये जाने पर भी लौटकर फिर नहीं गये। 'इण्ट्रेन्स' की परीक्षा की तैयारी करने लगे। परिवार के भरण-पोषण के लिए 'टयूशन' भी करने पड़ते थे। ईश्वर की कृपा से उसी साल (१८८६) पास हो गये। पास होते ही 'भारत-मित्र' में नौकरी मिल गई। सुबह-शाम नौकरी करते थे और दिन में विद्यासागर कालेज में एफ०

ए० श्रेणी में पढ़ते थे। सन् १८८८ में एफ० ए० पास हुए और सन् १८९० में अँगरेजी के बी० ए० (ऑनर्स) हुए। इसी साल आपके सम्पादकत्व में साप्ताहिक 'हिन्दी-बंगवासी' का जन्म हुआ, पर पढ़ाई न छूटी। सन् १८९४ में बी० एल० भी पास कर लिया। किन्तु उत्कट हिन्दी-प्रेम के कारण अदालत की कुर्सी तोड़ने का सौभाग्य प्राप्त न हुआ।

सन् १९०० तक हिन्दी-बंगवासी में रहकर आप बाबू बालमुकुन्द गुप्त के बुलाने से भारत-मित्र में चले गये। उसमें आप छोटी-छोटी मौलिक कहानियाँ लिखने लगे। 'शिवशम्भु का चिट्ठा' भी आपने ही शुरू किया था। पर, आपका लिखा अंश न तो 'चिट्ठा' ही पुस्तकाकार छपा और न कहानियों का ही संग्रह प्रकाशित हुआ। हाँ, आपका लिखा "सती सुखदेई" नामक मौलिक उपन्यास भारत-मित्र-कार्यालय से निकला है। हिन्दी-बंगवासी कार्यालय से भी आपकी कई पुस्तकें निकल चुकी हैं—बँगला-महाभारत के आदि, सभा और वन पर्वों का तथा विलायत की चिट्ठी, भगवद्गीता और संस्कृत के एक ज्योतिष-ग्रन्थ का हिन्दी अनुवाद। इनके सिवा वहीं से आपका लिखा 'सिक्ख युद्ध' नामक स्वतंत्र ग्रन्थ निकला है। एक 'शिवा जी की जीवनी' भी आपने वहीं लिखी थी, जो हिन्दी-बंगवासी के उपहार में बाँटी गई थी।

भारत-मित्र में लगभग डेढ़-दो वर्ष रहकर आप 'वेंकटेश्वर' में चले गये। पर वहाँ लार्ड कर्जन के दिल्ली-दरबार तक ही रहे। फिर प्रयाग में पण्डित द्वारकाप्रसाद चतुर्वेदी की सहयोगिता से आपके ही सम्पादकत्व में 'उपन्यासकुसुम' नामक मासिक पत्र निकला, पर एक ही अंक निकलकर बन्द हो गया; क्योंकि आप उसी समय भारतधर्म-महामण्डल के मैनेजर नियुक्त होकर मथुरा चले गये। मण्डल में सवा दो वर्ष रहे—'निगमागम-चन्द्रिका' का सम्पादन और यत्र-तत्र धार्मिक भाषण करके मण्डल का संगठन करना आपका काम था। जब 'मण्डल' मथुरा से काशी आया तब आप फिर १९०५ में १५०) पर सकुटुम्ब बम्बई के वेंकटेश्वर में चले गये। किन्तु बंगाल में स्वदेशी-आन्दोलन आरम्भ होते ही फिर स्वदेश चले आये और सन् १९०६ से १९०९ तक अपने थाने के इलाके में अकेले ही इतना स्वदेशी-प्रचार किया कि एक पैसे का भी विदेशी वस्त्र न बिकने पाया। उस आन्दोलन के अन्त (१९१०) में आप फिर भारत-मित्र में आये। पर रासायनिक अनुसन्धान का ऐसा शौक चर्राया कि सन् १९१२ में भारत-मित्र से अलग हो गये। फलतः पूँजी के अभाव से रसायनशाला भी आपको ऋणग्रस्त बनाकर कालग्रस्त हो गई। तब आप ब्यावर के सेठजी के यहाँ चले गये और वहाँ से हिन्दी के लिए बिलबिलाते हुए बम्बई को भागे, जिसकी चर्चा ऊपर हो चुकी है।

सन् १९१४ में योरप का महाभारत आरम्भ हुआ। उसी साल आपने वेंकटेश्वर को दैनिक कराया। किन्तु अनबन हो जाने के कारण एक ही वर्ष के बाद २००) की नौकरी छोड़कर 'कलकत्ता-समाचार' में चले आये। पर 'समाचार' में भी एक ही वर्ष टिके और सन् १९१६ में फिर बम्बई के 'समाचार' में पहुँचे। इस बार वहाँ वेंकटेश्वर-सम्पादक के अतिरिक्त १००) पर बम्बई के प्रसिद्ध धनेश्वर गोस्वामी गोकुलनाथ जी के अँगरेजी-हिन्दी-शिक्षक भी रहे। फिर दो वर्ष के बाद गोस्वामीजी ने २५०) पर अपना सलाहकार नियुक्त कर लिया। इसलिए सम्पादन-कार्य छोड़ देना पड़ा। गोस्वामीजी की अनुमति से आपने वंगभाषा में 'शुद्धाद्वैतदर्शन' नामक ग्रन्थ लिखा। आपसे गोस्वामीजी इतने सन्तुष्ट रहते थे कि सन् १९२३ में बीमार होकर घर आने पर भी महीनों तक १००) मासिक देते रह गये। किन्तु स्वस्थ होने पर आपने गंगा-तट पर ही वृद्धावस्था बिताने का निश्चय किया, अतएव कहीं बाहर न जाकर स्वर्गीय देशबन्धु दास के यहाँ ३००) पर आन्दोलक नियुक्त हुए, पर हिन्दू-मुसलिम पैक्ट के सम्बन्ध में मतभेद होने के कारण वह काम भी छोड़ बैठे। तब दानवीर बिड़लाजी की ओर से १५०) पाने लगे—कलकत्ते के 'वणिक्प्रेस' से निकलनेवाले साप्ताहिक 'श्रीसनातनधर्म' का सम्पादन करना और महाभारत की कथायें लिखना, यही काम था। पत्र बन्द हो गया, कथायें भी लिखी जा चुकीं और शायद अब यहाँ से भी शीघ्र ही छुट्टी मिल जाय।

आपकी हिन्दी-सेवा की चर्चा सुनकर पाठक आपके व्यक्तिगत परिचय के लिए उत्सुक होंगे; क्योंकि आज तक आपका परिचय कभी हिन्दी में प्रकाशित नहीं हुआ। अतएव, अन्त में, दो-चार मुख्य बातें लिख देना आवश्यक प्रतीत होता है।

बंगाल के नावरा ग्राम (पोस्ट बोगरा, जिला—चौबीस परगना) में, सन् १८६३ के आश्विन मास में, आपका शुभ जन्म हुआ था। आपके पिता पण्डित आनन्द चन्द्र

चक्रवर्ती पुराने ढर्रे के आस्तिक एवं निष्ठावान् ब्राह्मण थे। आपकी माता श्रीमती इच्छामयी देवी बंगला पढ़ी-लिखी और बड़ी दयावती थीं। आपके छोटे भाई प्रबोधचन्द्र चक्रवर्ती कलकत्ते में ईस्ट-बंगाल रेलवे के 'बुकिंग सुपरवाइ-ज़र' हैं। आपकी एकमात्र बहन भक्तिमती देवी 'यथा नाम तथा गुणः' के अनुसार बड़ी श्रद्धालु हैं। आपके चार पुत्र और चार विवाहित कन्याएँ हैं। आपकी पत्नी श्रीमती हेमन्तकुमारी देवी अभी जीवित हैं—बंगला और कुछ अँगरेजी जानती हैं। आपके पिता ने सन् १८७९ में एक साधारण गृहस्थ की एक सुशीला बालिका से ही आपका विवाह किया था। उसी साल गाजीपुर के विक्टोरिया-स्कूल से आपने अँगरेजी मिडिल पास किया था। वहाँ आपके मामा अफीम के महकमे में नौकर थे और उन्होंने ही बोदरा के छात्रवृत्ति-विद्यालय से हटाकर गाजीपुर के उक्त स्कूल में भर्ती कराया था। बोदरा के विद्यालय में ५ से ११ वर्ष की उम्र तक आपने बंगला पढ़ी और १ वर्ष घर पर मुग्धबोध व्याकरण तथा रघुवंश। अर्थात् १२ वर्ष की अवस्था में मामा के यहाँ पढ़ने गये; पर पढ़ाई में बाधा पड़ने के कारण उसी नगर में अपने एक विद्वान् मौसेरे भाई के यहाँ चले गये। किन्तु अँगरेजी-मिडिल पास करने और विवाहित होने के बाद ही पिता का देहान्त हो जाने से एकाएक आपके असमर्थ कन्धों पर कुटुम्बपालन का दुस्सह भार आ पड़ा। पर अल्हड़ नवयुवक और असहाय होने पर भी आप तनिक भी विचलित न हुए। लड़के पढ़ाकर परिवार के पालन-पोषण का काम चलाने लगे। दस बजे रात से पहले कभी आपको अपनी पाठ्य-पुस्तकें देखने का अवकाश नहीं मिलता था। उसी समय के पढ़ाये हुए विद्यार्थियों में से एक इलाहाबाद हाईकोर्ट के वर्तमान जज जस्टिस लालगोपाल मुकर्जी हैं, जिन्हें आपने दो वर्ष तक गाजीपुर में पढ़ाया था। पर जब पिता की मृत्यु के बाद गाजीपुर से घर आये तब जीविका के लिए कलकत्ते में बहुत खाक छानी; लेकिन आखिर लाचार होकर स्त्री के सुनहरे हार की शरण लेनी पड़ी। उसे बेचकर आपने साग-भाजी का रोजगार शुरू किया। देहात से कलकत्ते के बाजार में नाव पर साग-भाजी लाते थे। कुछ ही दिनों में ७०) नफा हुआ। मगर गाँववाले साग बेचने के कारण जब जातिच्युत करने की धमकी देने लगे तब ७०) लेकर सपरिवार फिर गाजीपुर चले गये और वहाँ से २०) मासिक और कुटुम्ब-भरण का व्यय पाकर एक धनी व्यापारी की दूकान पर प्रयाग चले गये, जहाँ पाँच वर्ष का गड़बड़ हिसाब दुरुस्त कर मालिक को अत्यन्त सन्तुष्ट कर दिया। किन्तु किंचित् दुर्व्यवहार के कारण वह नौकरी भी छोड़ देनी पड़ी और उसी दिन इलाहाबाद के लोकोमोटिव-डिपार्टमेण्ट में २०) मासिक पर नियुक्ति हो गई। पर वहाँ भी दुर्भाग्य ने पीछा न छोड़ा! बड़े साहब से बिगड़कर नौकरी छोड़ बैठे और उसी समय पहले-पहल 'प्रयाग-समाचार' द्वारा हिन्दी-संसार में प्रविष्ट हुए। केवल प्रचण्ड स्वाभिमान के कारण ही आपने याव-ज्जीवन बार-बार दरिद्रता का आलिंगन किया है। लक्ष्मी-सरस्वती के सापत्न्य के आप साक्षात् उदाहरण हैं।

१९२५

❀ ❀ ❀

स्वस्तिका 卐 और ओंकार ॐ

रायबहादुर अवधवासी लाला सीताराम बी० ए०

हमने प्रयाग में शिवचरनलाल रोड पर एक मकान बनवाया है जिसका नाम श्रीअवध का पर्याय "साकेत" रख दिया है। यह मकान ८० फुट लम्बा है और संगमरमर के पट्ट पर स्पष्ट रूप से देवनागर अक्षरों में "साकेत" खुदा हुआ है। तो भी पाण्डित्य में बढ़े-चढ़े लोग हमसे पूछते हैं कि मकान तो बड़ा है इसे सकेत (सकड़ा) क्यों कहते हैं? इस मकान में एक ओर अँगरेजी दवाखाना है जिसका नाम स्वस्तिका फारमेसी है। यही शब्द उर्दू अक्षरों में भी लिखा है। उर्दू अक्षरों की महिमा अकथनीय है। वहीं से थोड़ी दूर पर एक भोजन-भवन है जिसके तख्ते पर

پوتر بہو جنالے लिखा है। उसे "पवित्र भोजनालय" न पढ़कर एक महाशय ने पढ़ा 'पुत्रबहू जनाले'। ऐसे ही उर्दू अक्षरों में लिखे स्वस्तिका سوستیکا को कोई 'सौ सती का' कोई 'सुस्ती का' पढ़ लेते हैं। आज हम सरस्वती के पाठकों को स्वस्तिका की व्याख्या सुनाते हैं।

स्वस्तिका का रूप—स्वस्तिका 卐 के मुख्य चार रूप हैं।



परन्तु दोनों हाथों को नीचे लिखी रीति से छाती पर रखने से स्वस्तिका बन जाता है।



स्तनविनिहितहस्तस्वस्तिकाभिर्वधूभिः (मालतीमाधव अंक ४)।

इससे जान पड़ता है कि + या × भी स्वस्तिका का ही बिगड़ा रूप है। स्वस्तिका सदा से मंगल का चिह्न मानी जाती है। महाजन अपनी बही के आदि में हल्दी की स्वस्तिका बना देते हैं और सिन्दूर से रोकड़ की कोठरी के द्वार पर स्वस्तिका लिख देते हैं। लग्नपत्री आदि पर भी यही चिह्न बना रहता है।

हमारे देश में हिन्दुओं में तो इसकी महिमा मानी जाती ही है, जैन-धर्मवालों में भी इसका गौरव कम नहीं है। स्वस्तिका सातवें तीर्थंकर सुपार्श्वनाथजी का विशेष चिह्न है।*

पिपरहवा में जो सोने के आभूषण मिले हैं उनमें से एक पर स्वस्तिका का चिह्न है, जिससे विदित होता है कि बौद्धों में भी स्वस्तिका की महिमा मानी जाती थी।

यह तो हुई भारत की बात। ईसाई मानते हैं कि प्रभु ईसा मसीह 'क्रूस' (Cross) पर मारे गये और उनके मारे जाने से ईसाइयों के पाप छूट गये, इसलिए क्रूस पवित्र है। गिरजाघर क्रूस के आकार का बनता है, ऊपर क्रूस बना रहता है। पादरी लोग सोने का क्रूस गले में पहनते हैं। ईसाई मरने लगता है तो उसे क्रूस दिखाया जाता है। हमारी समझ में क्रूस की महिमा नहीं आती। हमारे इष्टदेव श्रीकृष्ण की लोक-यात्रा बहेलिए के तीर लगने से हुई थी। परन्तु हम न बहेलिए को पूजते हैं, न उसके तीर को। बहुत दिन हुए महर्षि वाल्मीकि ने एक बहेलिए को शाप दिया था—

मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः

सो अब तक बहेलिए नीच ही समझे जाते हैं। परन्तु क्रूस ईसा मसीह के प्रादुर्भाव से बहुत पहले से यूनान में और मिस्र में एक पवित्र चिह्न माना जाता था। बंगाल की एशियाटिक सोसाइटी के १९२१ के जर्नल (J.A.S.B. 1921) में श्रीयुत हरितकृष्णदेव का एक लेख छपा है जिसमें उन्होंने लिखा है कि यूनानियों में स्वस्तिका के आगे यूनानी अक्षर (μ = म) बना हुआ है। मिस्र की पुरानी प्रतिमाओं में क्रूस के ऊपर वृत्त बना हुआ है। इसमें वृत्त का अर्थ संसार का प्रतिपालन करनेवाला है और क्रूस बुद्धि का सूचक है। कार्थेज में क्रूस का चिह्न एक अलंकार था। अमरीका के मेक्सिको देश के पुराने निवासी अजटेक (Aztec) इसे चारों दिशा और उन दिशाओं से जो वायु आती हैं जैसे पुरवा, पछुवा उनकी अधिष्ठात्री देवता का स्वरूप समझते थे। अमरीका के आज-कल के रहनेवाले स्वस्तिका के शुद्ध रूप 卐 को कुशल-मंगल का क्रूस (Welfare Cross) मानते हैं। लातीनी भाषा में एक पद्य के अनुसार क्रूस चार लकड़ियों का बनाया जाता था, खजूर (palm), जैतून (olive), सिडार (cedar) और सनोवर (cypress)। और उससे भू-मंडल की चारों दिशाएँ सूचित होती थीं। स्वस्तिका के यहाँ मुख्य रूप ऊपर लिखे गये, परन्तु प्राचीन और नवीन यूरप में क्रूस के अनेक रूप हैं।

(१) यूनानी क्रूस + यह रूप असिरिया, मिस्र और ईरानी शिला-चित्रों पर देखा जाता है।

(२) सेन्ट ऐन्ड्रूज (St. Andrews) का क्रूस × यह पुराने शिला-चित्रों में बहुत मिलता है।

(३) रोमन-क्रूस (Latin Cross) † यह चिह्न भी ईसा से बहुत पहले के लेखों में है।

(४) टा क्रूस अर्थात् यूनानी अक्षर (τ ट) के आकार का T। यह भी बहुत पुराना है।

श्रीयुत हरितकृष्णदेव ने अपने लेख में यह दिखाया है कि स्वस्तिका ओंकार है। हम भी उनसे सहमत हैं।

---

* 7. Suparswanath.........His cognizance was the figure Swastika.—*Epitome of Jainism by Nabar and Ghosh* Appendix D. page lxi.

हमारे धर्म में ओंकार की महिमा अपार है। ओंकार को प्रणव और उद्‌गीथ भी कहते हैं।

छान्दोग्योपनिषद् में लिखा है—

ओमित्युद्‌गायति तस्योपव्याख्यानम् ॥१॥ एषां भूतानां पृथिवी रसः पृथिव्या आपो रसः। अपामोषधयो रस ओषधीनां पुरुषो रसः पुरुषस्य वाग्रसो वाच ऋग्रस ऋचः सामरसः साम्न उद्‌गीथो रसः॥२॥ स एष रसानांꣳरसतमः परमः परार्द्धयोऽष्टमो या उद्‌गीथः॥३॥ कतमा कतमर्क्क तमत्क-तमत्सामकतमः कतम उद्‌गीथ इतिविमृष्टं भवति ॥४॥ वागेवार्क् प्राणः साम ओमित्येकाक्षरमुद्‌गीथः।

अनुवाद

"ओम् उच्च स्वर से गाया जाता है इसी से इसे उद्‌गीथ कहते हैं। चराचर भौतिक पदार्थों का रस (गति) पृथ्वी है, पृथ्वी का रस जल है जिसमें पृथ्वी ओतप्रोत है। जल का रस (परिणामस्वरूप) ओषधियाँ हैं। ओषधियों का रस पुरुष है क्योंकि अन्न का परिणाम है। पुरुष का रस (सबका सार) वाचा है। वाचा का रस (सार) ऋग्वेद है, ऋग्वेद का रस (सार) साम है, साम का रस (सार) उद्‌गीथ है। सो यह उद्‌गीथ रसों का महारस, परमात्मा का स्वरूप, पृथ्वी से आठवाँ रस है। सो कौन-सी ऋचा है, कौन-सा साम है और कौन-सा उद्‌गीथ है? (उत्तर) सो वाचा ऋच् है और साम प्राण है और ॐ अक्षर उद्‌गीथ है"।

इसके आगे लिखा है—

आपयिता ह वै कामानां भवति य एतदेवं विद्वानुद्‌गीथमुपासते।

"जो इस ओंकार की इस रीति से उपासना करता है उसके सब मनोरथ सिद्ध होते हैं।"

आगे चलकर यहाँ तक लिखा है कि ओंकार की उपासना से देवता अमर हो गये।

ओंकार की महिमा के विषय में विशेष लिखने की आवश्यकता नहीं। हमारे मित्र श्री गणपतिराव बरवे ने जो प्रसिद्ध बाल-गन्धर्व मनहर के पिता और शब्दसुरत-योग के आचार्य हैं हमको अनेक चित्र और शंख दिखाये थे जिनमें इसी ओंकार से सरगम के सातों स्वरों की उत्पत्ति और उनसे भौतिक सृष्टि की उत्पत्ति स्पष्ट रूप से अंकित है।

अब इस विषय पर विचार करने से पहले स्वस्तिका की बनावट ध्यान से देखिए। पाणिनि ने ओम् के विषय में केवल इतना ही कहा है—

ओमभ्यादाने ८।२।८७।

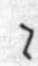
जिस पर भट्टोजिदीक्षित ने यह टीका की है

ओं शब्दस्य प्लुतः स्यादारम्भे

"ओम् शब्द प्लुत करके आरम्भ में कहा जाता है।"

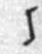
विद्वानों का अनुमान है कि पाणिनि का समय ईसा के पहले ही सातवीं शताब्दी है। इससे पहले का हो तो भी आश्चर्य नहीं, क्योंकि सातवीं शताब्दी से जब कि बुद्धदेव का जन्म हुआ संस्कृत की अवनति के दिनों का आरम्भ हुआ है। यह भी सिद्ध हो चुका है कि पाणिनि के समय में भारतवासी लिखना जानते थे। पिपरहवा पात्र पर जो लेख है वह ईसा से पाँच सौ बरस पहले का माना जाता है और ब्राह्मी अक्षरों में है। इन अक्षरों का प्रचार इस देश में बहुत दिनों से था और बुद्धदेव के निर्वाण से तीन सौ बरस पीछे तक रहा, पीछे बदला और अब उसका परिष्कृत रूप देवनागरी है। प्राचीन ब्राह्मी में ओ और ओं के निम्नलिखित रूप राय-बहादुर पण्डित गौरीशंकर हीराचन्द ओझा ने अपने भारतीय लिपिशास्त्र में दिये हैं।

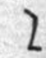
ओ के रूप

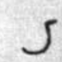
ईसवी सन् के पूर्व तीसरी शताब्दी
गिरनार का शिला-लेख (लि० प० १) 

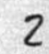
तथा

देहली सिवालिक स्तंभ (लि० प० २) 

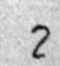
,, जौगढ़ शिला-लेख (लि० प० २) 

ई० पू० दूसरी शताब्दी
भट्टिप्रोलु का स्तूप (लि० प० ४) 

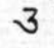
ई० सन् की पहली और दूसरी शताब्दी,
कुशनवंशी राजाओं के लेख (लि० प० ६) 

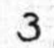
ई० सन् की दूसरी शताब्दी
नासिक के शक-राजा के लेख (लि० प० ७) 

,, नासिक के आंध्रवंशी राजाओं के लेख (लि० प० ९) 

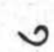
ई० सन् की दूसरी से चौथी शताब्दी तक
कार्ली की गुफा का लेख (लि० प० ११) 

ई० सन् की चौथी शताब्दी
कोण्डमुडि का दानपत्र (लि० प० १४) 

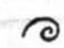
,, छठी शताब्दी
जापान में मिली पुस्तक (लि० प० १९) 

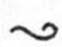
बावर (Bower Manuscript) की प्राप्त
भोजपत्र पर लिखी पुस्तक (लि० प० १९) 

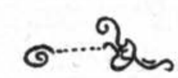
ओं३ के रूप

ईसवी सन् की पाँचवीं शताब्दी (लि० पत्र० १७) 

,, छठी शताब्दी (लि० प० १९) 

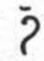
,, ,, (लि० प० ३८) 

,, सातवीं आठवीं शताब्दी
(लि० प० २१) 

,, सातवीं (शताब्दी)
(लि० प० ५७) 

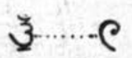
,, आठवीं (शताब्दी) (लि० प० २२) 

,, नवीं शताब्दी (लि० प० २३) 

,, (सातवीं नवीं शताब्दी) (लि० प० ४०) 

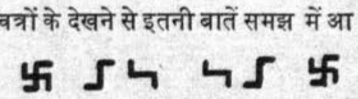
,, ग्यारहवीं शताब्दी (लि० प० २९) 

ग्यारहवीं से तेरहवीं शताब्दी तक
(लि० प० ३०) 

,, बारहवीं शताब्दी (लि० प० ३३) 

,, सोलहवीं शताब्दी (लि०प० ३१) 

इन चित्रों के देखने से इतनी बातें समझ में आ जायँगी—



(१) हम लोग वेद को अनादि मानते हैं परन्तु पाश्चात्य विद्वान् भी उपनिषदों को बहुत पुराना बताते हैं। कम से कम छान्दोग्योपनिषद् बुद्धदेव से भी पहले का है। इसमें ओंकार ईश्वरवाचक है। प्राचीन ब्राह्मी अक्षरों में ओंकार का विशेषरूप न था जैसा कि ईसवी सन् की छठी शताब्दी से होने लगा है।

(२) हम ऊपर लिख चुके हैं कि ओम् में ओ प्लुत है अर्थात् खींचकर पढ़ा जाता है इसीसे कभी-कभी ओम् में दोनों अक्षरों के बीच में ३ का अंक लिख देते हैं। पुराने लिपिकारों ने दोनों प्रकार के ओ को आड़ा-बेड़ा करके काट दिया और स्वस्तिका का मूल रूप बन गया।

(३) अब रहा अनुस्वार या मकार सो यह भी देखा गया है कि कहीं-कहीं स्वस्तिका के आगे ब्राह्मी में (४) भी लिखा है जिसकी नकल यूनानियों ने (μ = म) लिखकर की। जहाँ नहीं है वहाँ समझना चाहिए कि शब्द पहले बोला गया, लिखने की रीति पीछे निकली। आदि में ओ-ओ लिखकर ओं पढ़ लेते थे तो आश्चर्य नहीं। यह भी विचारने की बात है कि जब ओंकार का विशेष रूप बना तब पहले बहुत दिनों तक मुंडा ही रहा। पीछे उसमें कलंगी लगी जो आज-कल चन्द्रबिन्दु के रूप में परिणत हो गया है।

(४) हठधर्मियों को छोड़कर जो हमारी प्राचीन सभ्यता और हमारे आध्यात्मिक ज्ञान में सारे सभ्य संसार पर हमारा उपकार न मानने में अनेक तर्क-वितर्क करते हैं, सब मान गये हैं कि मिस्र, यूनान क्या अमरीका में भी हमारे आध्यात्मिक ज्ञान की ज्योति जगमगा गयी थी। उसीके साथ ओंकार का यह महामंगलसूचक चिह्न भी इन देशों में पहुँच गया था जो पीछे से क्रूस बनकर अब तक पूजा जाता है।

अब रहा इस ओम् का विश्लेषण अ उ म। यह वर्ण-माला बनने पर किया गया, जब ओंकार शब्द की व्याकरण की रीति से आवश्यकता प्रतीत हुई। किसी-किसी का यह भी मत है कि गणेशदेव की सूँड ऊपर अर्धचन्द्र-समेत ओंकार ही का स्वरूप है।

१९२८

❀ ❀ ❀

मरण-काल

श्री रामदास गौड़, एम० ए०

कर्म के नियम

कर्म का सिलसिला अनादिकाल से चला आया है। जो जैसा करता है वैसा फल पाता है। परन्तु सभी कर्म एक तरह के नहीं होते। किसी कर्म का फल तुरन्त मिलता है, किसी का कई जन्मों में मिल सकता है। यदि मार डालने का दण्ड मारा जाना ही हो और मान लीजिए कि किसी ने एक जन्म में दस मनुष्यों की हत्या की तो उस हत्यारे को दस बार प्राण-दण्ड एक ही जन्म में नहीं मिल सकता। इस उदाहरण से यदि विश्व में न्याय है तो अनेक बार जन्म लेना ही आवश्यक होना चाहिए। यदि अनेक जन्म हैं तो किसी क्रिया का फल जो इस जन्म में नहीं मिला है, आगे के जन्मों में मिल सकता है, दिये हुए ऋण का ब्याज सहित परिशोध हो सकता है, ब्याज-समेत बदला चुकाया जा सकता है। साथ ही जीवात्मा की उन्नति और अवनति दोनों हो सकती है। इस दृष्टि से कर्म तीन प्रकार के होते हैं—

(१) **संचित**, वे कर्म जिनका फल भविष्य में प्रारब्ध होकर भुगतेगा जो अभी पाप और पुण्य (जमा और नाम) खाते लिखे हुए हैं।

(२) **प्रारब्ध**, वे संचित कर्म जिनके भोग के रूप में भोक्ता का जन्म, शरीर (इन्द्रियाँ आदि) स्वभाव, और निमित्त (माता-पिता, देशकाल आदि सम्पूर्ण परिस्थिति) आदि बनते हैं, और जिनके अनुसार इनमें आगे भी परिवर्तन होते रहते हैं।

(३) **क्रियमाण**, वे नये कर्म जो मर्त्यलोकी प्राणी करता रहता है, जिनके फल के दो विभाग होते रहते हैं, **तात्कालिक प्रारब्ध** और **संचित**। तात्कालिक प्रारब्ध चाहे वर्तमान काल में और चाहे उसी जन्म में किसी समय भुगत जाता है। दूसरा विभाग आवागमन के चक्र को बनाये रहता है और मर्त्यलोक वा मानवलोक में ही वर्त्तता है। प्रेत या अन्य किसी पारलौकिक योनि में क्रियमाण का संचय नहीं होता।

जिन प्रारब्ध कर्मों के फल से शरीर और देश, काल, निमित्त का संघात होता है, उनका भोग पूरा होने पर आयु पूरी हो जाती है और स्वाभाविक मृत्यु हो जाती है। इसका समय (अर्थात् पूर्णायु) जन्मकाल में ही नियत हो जाता है, परन्तु यह संघात बाहरी प्रहार से भी नष्ट हो जाता है। विष से, कीटाणुओं और जीवाणुओं से, हिंस्र या विषैले पशुओं की चोट से, मनुष्य की हिंसा से, प्रेत, यक्ष आदि नीच देव योनिवालों के प्रहार से या अग्नि, जल, वायु आदि भूतों के आक्रमण से पूर्णायु के पहले भी शरीर छूट जाता है। परन्तु आयु पूरी हो जाने पर प्रारब्ध-पूर्त्ति के समय भी बाहरी कारण उपस्थित हो जाते हैं और मृत्यु भीतरी-बाहरी दोनों कारणों से हो जाती है। जहाँ पूर्णायु नहीं भुगती है और बाहरी प्रहार से ही मृत्यु होती है, वहाँ **"अकाल मृत्यु"** कही जाती है। बाहरी कारणों के होते भी यदि पूर्णायु पर मृत्यु हो तो वह "काल" मृत्यु होती है।

मरने से भय

मरण एक ऐसी अनिवार्य्य घटना है जो प्राणीमात्र पर घटती है। कोई प्राणी इसका भयवाद नहीं है। कोई ऐसा उपाय आज तक आविष्कृत नहीं हुआ जिससे यह घटना एकदम दूर हटा दी जा सके। स्वास्थ्य के उपाय से, योग के साधने से, संयम नियम प्राणायाम प्रत्याहार से मनुष्य चिरायु भले ही हो ले परन्तु अबेर सबेर किसी न किसी दिन मरना ही पड़ेगा। "अमर" शब्द जो देवताओं के लिए प्रयुक्त होता है, वस्तुतः सापेक्ष है। किसी को दो-चार हजार वर्षों में, किसी को लाख-दो लाख वर्षों में, किसी को युगान्त में, किसी को मन्वन्तर के अन्त में और सभी अमरों को कल्पान्त में तो अवश्य ही मरना पड़ता है। भूलोक, भुवर्लोक और स्वर्गलोक प्रलय में नष्ट होनेवाले लोक हैं, परन्तु कल्पान्त-प्रलय में तो सभी लोकों का अन्त हो जाता है। ब्रह्मा ही बच जाते हैं। परन्तु ब्रह्मा अपनी आयु भर जीते हैं। आयु तो विष्णु और शिव की भी है। निदान जो सृष्टि और स्रष्टा देश और काल के अन्तर्गत हैं उनका अन्त होना निश्चित है। प्रकृत अमर वही परमात्मा है जो देश से असीमित, काल से परे और बुद्धि से अचिन्त्य है।

मरना सब को है, परन्तु मरने की इच्छा कोई नहीं करता। सम्भव है कि कोई किसी कारण से मृत्यु से न डरे परन्तु मृत्यु की अभिलाषा किसी प्राणी को नहीं होती।

मृत्यु से अज्ञात भय और अकारण अनिच्छा प्रकृति है, स्वभाव है। हलाहल जब समुद्र से निकलता है, सभी देवता-दैत्य जलने लगते हैं। उनकी रक्षा की आवश्यकता होती है, भगवान् शंकर उसे पी लेते हैं और देवता बच जाते हैं, नहीं तो मर जाते। उनका दिव्य शरीर छूट जाता, शायद उन्हें नीच योनियों में जन्म लेना मड़ता। शायद उनकी अधोगति होती। परन्तु यदि अधोगति का भावी भय न भी होता, तो भी तत्काल ही जलने का दुःख तो होता ही। शायद मरने में भी कष्ट होता। भस्मासुर ने जब भगवान् शंकर को ही भस्म करना चाहा तो उन्हें भी चिन्ता हुई कि यह हमको जला देगा। मृत्यु के पहले होनेवाली पीड़ा का भय मृत्यु से अधिक भयानक है, क्योंकि मरने के पहले अनेक कड़ी यातनायें भुगतनी पड़ती हैं। मृत्यु के पीछे क्या होता है, इसका पता नहीं है, इसी लिए अज्ञात भय होता है।

भारतीय दार्शनिक दृष्टि से मरना केवल शरीर छोड़ देना है। मनुष्य जहाँ कहीं थोड़े काल तक भी रहता है उस स्थान से उसके मन में अनुराग हो जाता है। फिर जिस शरीर में वह बहुत काल तक रहा, यदि उसके छूटने में उसे वियोग का दुःख हो तो स्वाभाविक ही है। फिर मरने पर केवल शरीर के वियोग का दुःख तो नहीं है, पुत्र, कलत्र, स्वजन, मित्र, सुख की सामग्री सबसे तो वियोग हुआ ही जाता है, दुःख क्यों न हो। सच पूछिए तो स्वजन-परिवार, मित्र आदि भी सुख की सामग्री ही हैं। क्या पता कि परलोक में कैसी पड़ेगी, क्या सुख-दुःख मिलेगा। जिन वस्तुओं में हम वर्तमान काल में सुख प्रतीत करते हैं उनमें अधिकांश ममता का बन्धन इसलिए हुआ करता है कि आगे उनसे अच्छी और अधिक सुखकर सामग्री मिलने का निश्चय नहीं होता।

संसार के सभी पुराणों में रोचक और भयानक कथाएँ देकर मनुष्य के जीवन को सत्पथगामी बनाने की चेष्टा की गई है। स्वर्ग का सुख और नरक की यातना, मरने के बाद दोनों दृश्य दिखाये गये हैं। उद्देश्य स्पष्ट ही है। आस्तिक मनुष्य इसी लिए फूंक-फूंककर कदम रखता है। डरता रहता है कि मरने पर न जाने क्या हो। यह बात भी मशहूर है। "जन्मत मरत दुसह दुख होई" और इसी कल्पना से जन्म-मरण के बन्धन से छूटने के लिए भी लोग यत्न करते हैं, मोक्ष को ही सबसे उत्तम जानते हैं।

सर्व-साधारण के मृत्यु से भय का कारण भविष्य के सम्बन्ध में अज्ञान, मृत्युकाल की यातना का त्रास, वर्तमान सुख की सामग्री से ममता और वियोग का भय ही होता है। अब यह विचार करने की बात है कि भय के ये सब कारण कहाँ तक ठीक हैं? क्या मृत्यु सचमुच डरने की चीज है? क्या किसी तरह मृत्यु के भय से हम बच सकते हैं? क्या मृत्यु के पहले और पीछे यातना होती है? यदि होती है तो सबको समान रूप से होती है अथवा किसी को होती है किसी को नहीं? क्या मृत्यु के समय और पीछे सुख भी होता है? क्या मृत्यु के बाद मरनेवाले को स्वजनों की याद और मुहब्बत रहती है, क्या वह उनसे सहानुभूति रखता है अथवा उन्हें भूल जाता है? सभी विचारवान् मनुष्यों को इन प्रश्नों के सम्बन्ध में कुतूहल रहता है। इसलिए हम इन प्रश्नों पर आजकल की परलोक विद्या की दृष्टि से विवेचन करेंगे।

मरने से ठीक पहले क्या होता है

मरनेवाला कैसी दशा में मरता है, यह कोई निश्चित बात नहीं है। एक रोगी बीसों बरस चारपाइयों पर पड़ा-पड़ा घुलता है। उसके शरीर में निरन्तर पड़े रहने से फोड़े हो जाते हैं और अन्त में बड़े कष्ट से दम घुट-घुटकर शरीर छूटता है। किसी-किसी को तड़फ-तड़फकर शरीर छोड़ते देखा है। कोई-कोई जीवन भर सुखी और स्वस्थ रहते हैं और अन्त में घण्टे आधे घण्टे अस्वस्थ होकर शरीर त्याग करते हैं। प्रयाग के प्रसिद्ध एडवोकेट और नेता सर सुन्दरलाल सारे जीवन स्वस्थ और सुखी थे। एक छुट्टी के दिन गंगाजी स्नान को जाने की तैयारी में थे। एकाएक शरीर शिथिल हो गया। सारा शरीर पसीने से भीग गया। आधे घंटे तक चुपचाप लेटे रहे। हृदय की गति एकाएकी रुक गई। शरीर छूट गया। डाक्टरों ने परीक्षा करके कहा कि हृदय पर चरबी छा गई इससे रक्त की गति रुक गई। बम्बई के स्पीशी बैंक के सर्वस्व सेठ चुन्नीलाल सरैया आफिस जाने को तैयार हुए। जरा घबराहट मालूम हुई। कुर्सी पर बैठ गये। थोड़ी देर में बैठे ही बैठे देहावसान हो गया। एकाएक हृदय की गति बन्द हो गई। क्षय-रोगी के हृदय की गति प्रायः धीरे-धीरे बन्द होती है। किसी साधु-महात्मा का मरण अद्भुत देखा गया है। उन्हें पहले से मृत्यु का समय मालूम हो गया। वे भगवान् के ध्यान में बैठ गये। सब लोग राम-राम करने। इस तैयारी से

शरीर छूट गया। कोई कष्ट नहीं हुआ। वैज्ञानिकों के मत से मृत्यु जिन-जिन रीतियों से होती है, सबको इन चार प्रकारों में बाँट सकते हैं—

(१) हृदय की गति एकाएक बन्द हो जाने से,—जो या तो हृद्रोग अथवा रक्त-संस्थान में किसी विषम रोग के कारण अथवा नाड़ी-मण्डल पर एकाएक असह्य धक्का लगने से हृदय पर प्रतिक्रिया हो जाने से होती है।

(२) यक्ष्मा आदि क्षय रोगों या ज्वर के विषों से धीरे-धीरे सम्पूर्ण शरीर के क्षीण हो जाने से, हृदय की गति धीरे-धीरे बन्द होती जाती है, अन्त में रुक जाती है।

(३) डूबने से या किसी और कारण से जब दम घुट जाता है और फेफड़े के भीतर वायु नहीं जा पाती।

(४) मस्तिष्क पर भारी चोट पहुँचने से अथवा अफीम मद्यसार, सर्प, हैजा आदि के विषों से रक्त-संचार द्वारा ये मस्तिष्क पर पहुँच जाते हैं, गहरी बेहोशी आ जाती है। इसी बेहोशी में प्राणान्त हो जाता है।

इन चारों रीतियों में किसी एक रीति से या दो या तीन सम्मिलित रीतियों से भी मृत्यु होती है। रक्त-संचार और श्वास का बंद हो जाना, शरीर की गर्मी का दूर हो जाना और कहीं चीर देने से दोनों किनारों के उभर आने के बदले बैठ जाना मृत्यु के लक्षण हैं। मृत्यु के कुछ पीछे चेहरे और गर्दन से आरम्भ करके मांस-पेशियाँ अकड़ जाती हैं और २४ से लेकर ३६ घंटे तक कड़ी बनी रहती हैं। मृत्यु के बहुत पीछे के लक्षणों पर विस्तार करने की यहाँ आवश्यकता नहीं है। मृत्यु के समीपतम कारण चिकित्सकों की दृष्टि से यही हैं। इन समीपतम कारणों के हेतु सैकड़ों तरह के हो सकते हैं। उन पर भी विस्तार करना व्यर्थ है।

हिन्दुओं के दार्शनिक मत के अनुसार मृत्यु के कारण साधारणतया तीन होते हैं—

(१) **दैहिक ताप**, अर्थात् वात, पित्तादि तीनों दोषों से उत्पन्न शारीरिक रोग, जिसे चरक ने "निज" रोग कहा है।

(२) **भौतिक ताप** या वे रोग या दोष जो बाहर से प्रहार के कारण होते हैं, जैसे, सर्प-दंशन, शेर का आक्रमण, भूत-प्रेत का आक्रमण अथवा डूबना, जलना या बाहर से किसी तरह की चोट खाना इत्यादि।

(३) **दैविक, ताप** अर्थात् हैजा, मरी, विस्फोटक आदि संक्रामक रोग, ग्रहदशा से उत्पन्न पीड़ा, नीच देवताओं की ओर से प्रहार, तथा मंत्र-यंत्र त्रोटक, शाप आदि का परिणाम।

चरक ने भौतिक और दैविक दोनों प्रकार के तापों को "आगन्तुक" बतलाया है। तीनों तापों के उपर्युक्त विभाग प्रस्तुत प्रसंग में प्रयोजनीय हैं।

थोड़ा-सा विचार करने से यह स्पष्ट हो जायगा कि कम से कम दैहिक और भौतिक तापों से मनुष्य निरन्तर पीड़ित होते रहते हैं। खटमल, मच्छर, कुटकी आदि के काटने की पीड़ा, अदृश्य कीटाणुओं और प्रेतों के प्रहार आदि भौतिक और वात-पितादि के घटने, बढ़ने, तथा कुपित होने की दैहिक पीड़ायें तो साधारण और नित्य की बातें हैं। इन तीनों तापों की पीड़ा जब आत्यन्तिक दशा को पहुँचती है कि शरीर जीवात्मा के ठहरने अथवा संसार का उद्देश्य-पालन करने के योग्य नहीं रह जाता तब शरीर का एकदम वियोग या अन्त हो जाता है। उग्र विष से या मर्म्मस्थल पर चोट लगने से भी संघात नष्ट हो जाता है। ग्रहों की अनिष्ट दशा भी संघात का विघातक हो जाती है। इसे दैवी ताप कहते हैं। लोग जो यह शंका ज्योतिष के सम्बन्ध में किया करते हैं कि एक ही मुहूर्त्त में हजारों बालक संसार में उत्पन्न होते हैं। तब सबकी दशा एक-सी होनी चाहिए, परन्तु होती नहीं। इसका उत्तर यह है कि बिलकुल ठीक-ठीक एक ही मुहूर्त्त सबका न होने के अतिरिक्त हर एक का प्रारब्ध, हर एक का संस्कार अलग-अलग होता है, और परिस्थिति-भेद से हर एक पर भौतिक ताप का भिन्न प्रभाव पड़ता है। दैहिक पीड़ायें और दशायें भी भिन्न होती हैं। इस प्रकार अनेक विभिन्न कारणों के संयोग वियोग से व्यक्तियों का भाग्य नितान्त अलग-अलग होता ही है।

किसी मनुष्य की मृत्यु होनेवाली है। जिस परगने में वह रहता है उस परगने का लेखक उसका परवाना बनाता है और यम की आज्ञा से आवश्यकतानुसार एक या अधिक दूतों को वह परवाना मिलता है। निश्चित मुहूर्त्त पर वे उस मनुष्य के पास पहुँच जाते हैं और अपने काम में हाथ लगा देते हैं। कभी-कभी ये दूत मरनेवाले को देख पड़ते हैं और कभी नहीं भी देख पड़ते। कुछ हो ये दूत लिंगदेह या प्रेत शरीर को स्थल से सदा के लिए

अलग कर देते हैं, फिर स्थूल के चेतन को अलग करके प्रेत-शरीर के चेतन को लय कर देते हैं और स्थूल देह को छोड़ देते हैं। प्रेत-शरीर जिस मार्ग से यमराज के दरबार में ले जाया जाता है वह नितान्त अन्धकारमय होता है। वह पहले जिस कठघरे में खड़ा होता है वह भी अन्धकार से आवृत्त रहता है। प्रेतात्मा नहीं जानती कि मुझे कौन कहाँ लिये जा रहा है, कहाँ आकर मैं रुका हूँ, क्या हो रहा है। मरनेवाले को मरते समय एक क्षण-भर असह्य कष्ट प्रतीत होता है, फिर वह प्रायः बेहोश हो जाता है। फिर स्थूल देह छोड़ते ही उसे होश भी होता है तो वह घोर अन्धकार के कारण कुछ नहीं देख पाता। एकाएक माध्यम और इन्द्रियों के बदल जाने से वह कुछ सुन भी नहीं सकता। यम की सभा में खड़े रहते भी उसे कुछ पता नहीं होता। उसके कर्मों का लेखा होता है, उसके लिए हवालात में रखने की आज्ञा होती है।

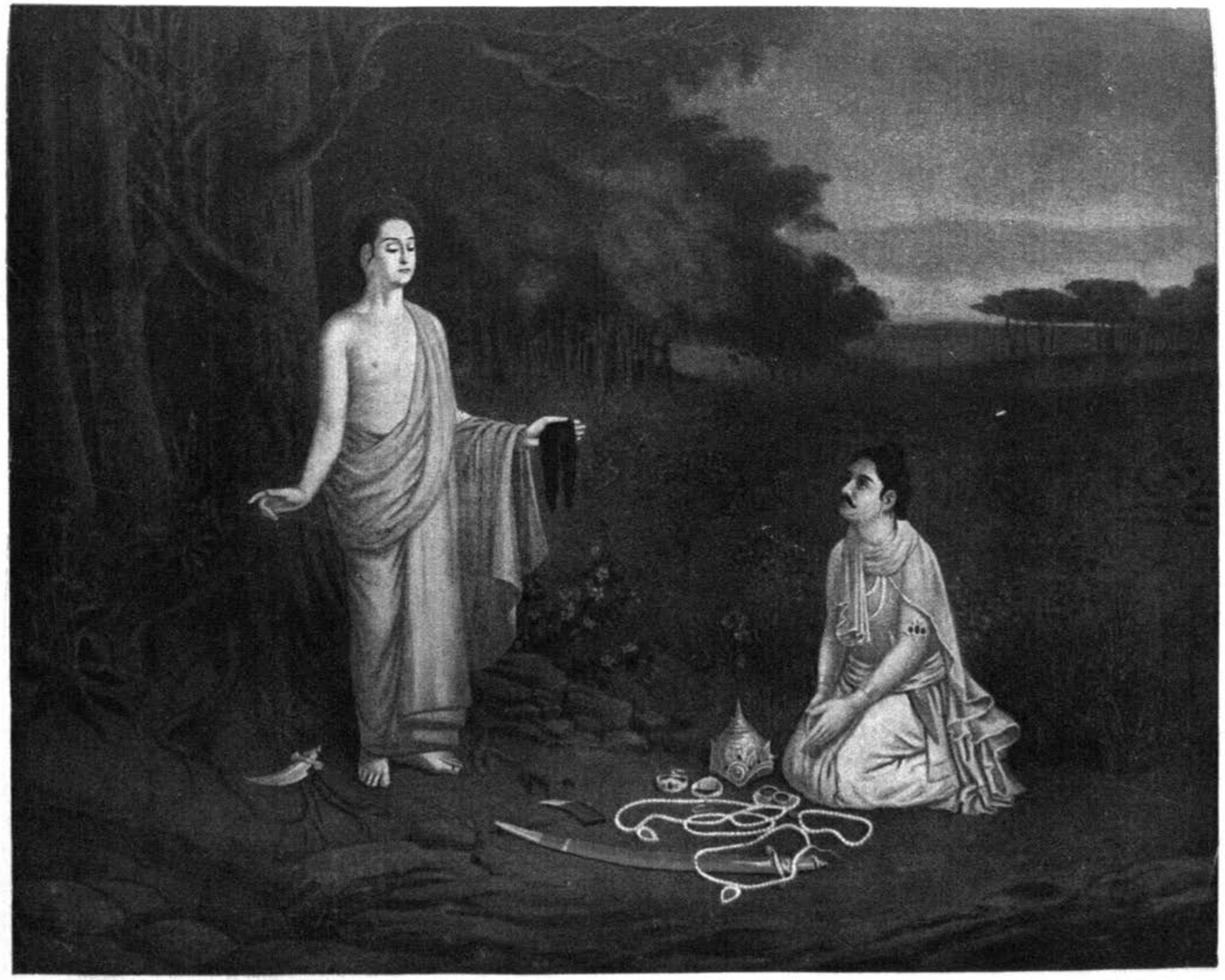
परन्तु यह सब वह कुछ नहीं जानता। उसके लिए वही स्थान प्रायः हवालात बन जाता है; जहाँ उसकी मृत्यु हुई है। उस जगह उसके प्रेत-शरीर की नई इन्द्रियाँ कुछ-कुछ धुँधला-सा देखने लगती हैं। कुछ जरा-जरा सुनने भी लगती हैं। परन्तु उसे यह बिलकुल याद नहीं आता कि इस वर्त्तमान दुरवस्था के पहले वह कहाँ था, कैसा था। रोना-चिल्लाना कुछ-कुछ सुनता है, पर उसे अपनी दशा की याद नहीं आती। अतः वह समझ नहीं पाता। परन्तु किसी अज्ञात कारण से रोना सुनकर उसका जी बेतरह घबराता है। उसकी वर्तमान लाचारी भी घबराहट का कारण होती है। अभी उसको न कोई दुःख है, न सुख, वह एक प्रकार की अर्धचेतन अवस्था में है। जिन मरनेवालों की लाश बहा दी जाती है या गाड़ दी जाती है, उनके लिए हवालात लाश के पास ही रहती है।

हमने साधारण पाप-पुण्यवाले प्राणियों की पूर्णायुगत मृत्यु का वर्णन किया है। अब भौतिक बाधा-द्वारा अकाल-मृत्यु पर विचार कीजिए।

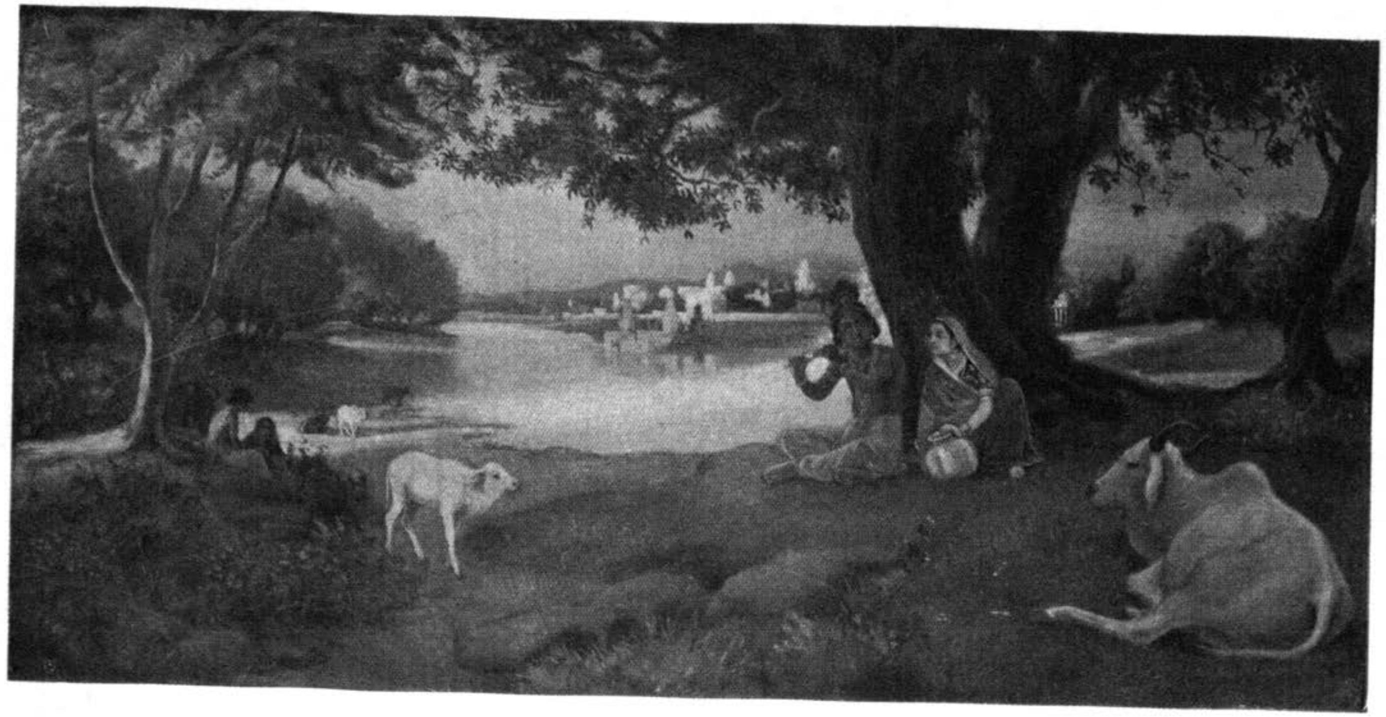
हम कह चुके हैं कि सर्प, मनुष्य, हिंसक जन्तु आदि के आक्रमण से जो मृत्यु होती है वह भिन्न प्रकार की होती है। गोली लगने से धुकधुकी बन्द हो गई या संखिया खा लेने से प्राणान्त हो गया, उस समय एकाएक मनुष्य अंधकार में डूब जाता है, चेतना-शून्य हो जाता है। यह संज्ञाहीनता उस समय धीरे-धीरे मिटने लगती है जब जीवन-सूत्र टूट जाता है या टूटने के लगभग हो जाता है। धीरे-धीरे होश आने पर उसे ऐसा जान पड़ता है कि नींद से उठ रहा है। एकाएक शरीर अत्यन्त हलका जान पड़ा। देखता है कि उसकी लाश पड़ी हुई है। अब उस घटना की याद धीरे-धीरे आती है जिससे मृत्यु हुई है। फिर लाश का अन्त्येष्टि संस्कार कराने वह साथ ही साथ जाता है। यदि समाधि दी गई तो वह कभी समाधि पर और कभी अपनी मृत्यु के स्थान पर रहता है। स्वजनों के दुःख से उसे दुःख होता है। उनसे बातचीत न कर सकने से वह बेतरह घबराता है, पर कुछ कर नहीं सकता। उसके प्रेम, क्रोध, भय आदि सभी भाव प्रबल होते हैं, पर अवस्था से लाचारी होती है। दस से तेरह दिनों तक उसकी अनिश्चित दशा होती है, फिर उसके सम्बन्ध में यम-द्वारा यह निश्चित हो जाता है कि कब तक वह किस दशा या किस योनि में रहेगा।

पुण्यात्मा जो भौतिक बाधा से नहीं मरते, हिन्दू हुए तो पितृयोनि या स्वर्ग पाते हैं और हिन्दू न हुए तो उत्तम प्रकार का प्रेत-शरीर पाते हैं, जिसमें उन्हें पितृयोनि का ही सुख मिलता है। पितृयोनि से कोई कोई पुण्यात्मा स्वर्ग भी पा जाते हैं। उसी तरह उत्तम प्रकार की प्रेत-योनि से भी स्वर्ग-प्राप्ति हो सकती है। परन्तु पुण्यात्माओं को भी मृत्यु के बाद अपने हिसाब-किताब के लिए यम के दरबार में जाना ही पड़ता है और वहीं से लोक का निश्चय होता है। भगवान के भक्त को यम के यहाँ नहीं जाना पड़ता। उन्हें पार्षद भगवत्पद को बड़े आराम से ले जाते हैं। अच्छे भगवद्-भक्त के लिए जो भगवान् का नाम जपते जपते शरीर-त्याग करते हैं, प्रायः विमान आता है और वह स्थूल, लिंग, सूक्ष्म तीनों शरीर छोड़कर तुरन्त किशोर-कैवल्य-शरीर से उस विमान पर पार्षदों के साथ चला जाता है।

मरणान्तर की घटनायें उसी तरह एक-सी नहीं हो सकतीं, जैसे मरण-पूर्व की घटनायें इस स्थूल जगत् के प्रत्येक व्यक्ति की भिन्न-भिन्न होती हैं। अपने-अपने कर्म्मों के सम्बन्ध से साधारणतया व्यक्तियों की परिस्थितियाँ भिन्न होती हैं।



बुद्ध-वैराग्य
(चित्रकार—यामिनीप्रकाश गांगोली)



मोहन की मोहिनी मुरली
(चित्रकार––रविशंकर रावल)

गालिब की ठठोल

श्री अख्तरहुसेन रायपुरी

रूसी साहित्य में मधुर मुस्कान के पीछे हृदयद्रावक आँसुओं की नदी मौज मारती दिखाई पड़ती है। गूगल को देखो या दस्तोवेस्की को, तर्गनेव को उठाओ या टाल्स्टाय को, हर कहीं हँसी के फौवारे में आँसू की बूंद चमक पड़ेगी, राग-रंग में करुण-क्रन्दन मिलेगा। रूस में हास्याचार्य डिकन्स का रंग गूगल ने जिस खूबी से अपनाया वह विश्व-साहित्य में आप अपना जवाब है। लोग पढ़ते हैं और हँसते हैं, किलकते हैं।

किन्तु मिर्जा गालिब इस मैदान में रूसी साहित्यिकों के प्रतिद्वन्द्वी ठहरते हैं। रूसी हँसते-हँसते रो पड़ते हैं तो गालिब रोते-रोते हँस पड़ते हैं। गालिब के चित्र के दोनों पटों को अंकित करना इसी कारण बड़ा कठिन हो जाता है। जो गालिब कविता-क्षेत्र में सिर धुनता नजर आता है, जो निराशावाद के रंग में शराबोर है, दुनिया से बेजार है, मौन की राह देखते-देखते जिसकी आँखें पथरा गई हैं, संसार का राग-रंग जिसे तनिक नहीं सुहाता, यदि उसी मातमी गालिब को हम उसके खानगी जीवन में मुल्ला दोपियाजा के नामलेवा के रूप में देखते हैं तो कितना आश्चर्य होता है। दिल की आँखों के आगे अब भी मिर्जा का चित्र-सा घूमता है। एकांत में उसके हृदय में शोकसागर उमड़ आता है, मौत को मनाते दिन बीत जाता है, दुनिया को कोसता है और बिलखता है, लेकिन एकान्त-कुंज से बाहर आते ही मिर्जा वह वैरागी नहीं रह जाता। इसे छेड़ा, उसे गुदगुदाया, रोते को हँसाया, बिगड़े को मनाया। ये गालिब के जीवनचित्र के दो पट हैं। इस लेख का उद्देश्य दूसरे चित्र को रँगना है।

मौलाना हाली ने अपनी अमरकृति 'यादगारे गालिब' में अपने उस्ताद की रंगीन तबीअत का सुन्दर चित्रण दिया है। मौलाना आजाद ने भी 'आबेहयात' में गालिब के हँसोड़पन और ठठोल का दिग्दर्शन कराया है। गालिब के 'उर्दू-दीवान' में कुल १८ सौ शेर हैं। इनमें से शायद १८ में से 'आह आह' की तान निकलेगी, वर्ना आद्योपान्त 'वाह वाह' की भरमार है। काल के निष्ठुर हाथों ने एशिया के इस महाकवि के एक चरित्रपट को रौंद डाला। हमें हाली, आजाद और उन बूढ़ों का कृतज्ञ होना चाहिए जिन्होंने मिर्जा का जमाना देखा और उसकी याद को स्मृति-कषि में सुरक्षित रक्खा, अन्यथा गालिब की उर्दू-कविता से तो इसका आभास मिलना भी कठिन है। उसके कवितोद्यान के मालियों ने रंग-बिरंगे और अछूते फूलों को जिस बेदर्दी से मसल डाला, उसका जितना मान किया जाय, कम है।

हाली का बयान है कि दिल्ली में मिर्जा की हाजिर-जवाबी और हास्यप्रियता की धूम थी। सबसे मेल-जोल व साहब-सलामत थी, पर किसी की राह पर न चलते थे। न वह वेशभूषा ही जो तत्कालीन फैशन था। बड़ी आजाद तबीअत पाई थी। हर अदा निराली थी। पहले 'असद' उपनाम था, पर जब किसी सौदाई शिष्य ने 'असद' तखल्लुस किया तब फौरन इसे छोड़कर 'गालिब' को अपनाया। इसका सबब बड़ा मजेदार है। एक बार बनारस में मिर्जा के एक प्रेमी मिलने आये। मिर्जा ने बड़ी आवभगत की। बनारसी ने कहा कि हजरत, आपकी शाअरी का आशिक हूँ। खास कर इस शेर को पढ़ता हूँ तो लोट-पोट जाता हूँ। मिर्जा ने उत्सुकता से पूछा, जरा मैं भी तो सुनूं। पढ़ा।

'असद' तुमने बनाई ये गजल खूब,
अरे ओ शेर, रहमत हो खुदा की।

यह शेर मिर्जा का नहीं बल्कि उक्त सौदाई असद का था। इसे सुनना था कि मिर्जा आग बबूला हो गये। बाजारू मुहावरों और शब्दों से बहुत बचते थे, उनके उपयोग को भीषण साहित्यिक अपराध समझते थे। इस शेर के दूसरे मिसरे में 'अरे' व 'शेर' ये दोनों तो बाजारू हैं ही, फिर 'खुदा की रहमत' भी मामूली बातचीत में व्यवहृत होता है। गालिब ने त्यौरी बदल कर कहा कि अगर यह शेर मेरा हो तो मुझ पर खुदा की लानत और अगर किसी दूसरे असद का है तो उस पेर खुदा की रहमत। बस उसी दिन से 'असद' को तिलांजलि दे 'गालिब' तखल्लुस किया। मौत इतनी प्यारी थी कि हर साल अपनी मौत की तारीख बनाते थे। एक बार तारीख बनाई 'गालिब

मुर्द।' उस वर्ष दिल्ली में महामारी का प्रकोप हुआ, हजारों घर उजड़ गये। किसी ने लिखकर पूछा, हजरत इस बार भी तारीख बेकार गई। मिर्जा ने कहा, मियाँ अच्छा हुआ जो इस बार न मरा। दुनिया से घबरा के तो मरना चाहता हूँ, फिर इस भीड़भाड़ के साथ मर कर तो मरने का ही मजा न रहता। जीवन में सबसे निराली सजधज थी तो मौत में भी नई शान चाहते थे।

मिर्जा हाजिरजवाब भी एक ही थे, अच्छे-अच्छे तर्रारों की बोलती एक चुटकी में बन्द कर देते थे। जब अपने पेंशन के झगड़े को निपटाने के लिए कलकत्ता जा रहे थे तब कुछ दिनों के लिए लखनऊ में ठहर गये। उन दिनों लखनऊ में उर्दू के बड़े-बड़े जानकार रहते थे। उन सबके साथ गालिब भी निमंत्रित किये गये। साहित्यचर्चा छिड़ते ही कोई मिर्जा से पूछ बैठा कि जिस मौके पर दिल्ली-वाले 'अपने तईं' बोलते हैं, लखनऊवाले 'आपको' बोलते हैं। आप दोनों में से किसे फसीह समझते हैं। लखनऊ-वालों की-सी कहते हैं तो दिल्ली की नाक कटती है और अपनी सी कहते तो लखनौवे झल्ला उठते। मगर मिर्जा कब चूकनेवाले थे। कहा, ठीक तो वही मालूम होता है जो लखनऊवाले बोलते हैं, मगर इसमें एक कठिनाई है। 'मगर' को सुनते ही सबका मुँह फक हो गया। भर्राई हुई आवाज में पूछा, वह क्या? मिर्जा ने कहा कि आप मेरी प्रशंसा करते हुए कहेंगे कि मैं 'आपको' साधुस्वभाव समझता हूँ। तो इसके जवाब में अपनी निस्बत कहूँगा कि नहीं जनाब, मैं तो 'आपको' कुत्ते से भी बदतर समझता हूँ। डर है कि मेरे जवाब से आप यह न समझ लें कि मैं आपको कुत्ता बना रहा हूँ, बल्कि शिष्टता से मैं अपने को कुत्ते से भी बुरा समझता हूँ। ऐसे मौके पर 'अपने तईं' कहना अच्छा होगा। यह मुँहफट जवाब सुनते ही सब निरुत्तर हो गये।

दिल्ली में ऐसी ही एक घटना और प्रसिद्ध है। दिल्ली में रथ को कुछ लोग पुंल्लिग कहते थे और कुछ लोग स्त्रीलिंग। किसी ने मिर्जा से पूछा कि 'रथ' कौन-सा लिंग है? जवाब दिया कि रथ में मर्द बैठे हों तो पुंल्लिग है और औरतें बैठी हों तो स्त्रीलिंग है।

मिर्जा को शतरंज और चौपर का बड़ा शौक था। शर्त बद कर खेलते थे। किसी ने जुआ खेलने का अभियोग लगाया और काजी ने आव देखा न ताव, झट छः महीने के लिए बड़े घर भेज दिया। वहाँ कपड़ों में जुएँ लिपट गईं। एक दिन मिर्जा बैठे जुआँ-संहार कर रहे थे कि कोई रईस मिलने के लिए पहुँचे। मिर्जा दिल में कट गये, बगलें झाँकने लगे, पर झट सँभलकर यह शेर पढ़ दिया—

हम गमजदा जिस दिन से गिरफ्तारे बला हैं।
कपड़ों में जुँएँ बखियों के टाँकों से सिवा हैं।

अल्लाह-अल्लाह करके जिस दिन जेलखाने से छुट-कारे की नौबत आई तब जेल का कुर्ता वहीं फाड़कर फेंका और यह शेर पढ़ा—

हाय उस चार गिरह कपड़े की किस्मत गालिब।
जिसकी किस्मत में हो आशिक का गरेबाँ होना।

जब मिर्जा कैद से छूट गये तब मियाँ काले साहब के मकान में आकर रहे। एक दिन काले मियाँ के पास बैठे थे कि किसी ने आकर बंधन-मुक्ति पर बधाई दी। मिर्जा ने कहा—कौन भँड़ुवा कैद से छूटा है? पहले गोरे का कैदी था, अब "काले" का हूँ।

इसी प्रकार एक बार कर्ज के बोझ ने बुरी तरह दबोचा, महाजनों ने नालिश कर दी; बेचारे मिर्जा काजी की अदालत में घसीटे गये। काजीजी ने पूछा, क्यों हजरत, अब क्या कहते हो? यहाँ कहने में देर क्या थी, बोले—

कर्ज की पीते थे मै लेकिन समझते थे कि हाँ,
रंग लावेगी हमारी फाकामस्ती एक दिन!

बहन बीमार थीं, आप देखने गये और पूछा—क्या हाल है। वे बोलीं कि कुछ दिन की मेहमान हूँ। इसी फिक्र में घुली जाती हूँ कि कर्ज का बोझ गर्दन पर सवार है। मिर्जा ने खिलखिलाकर कहा—बुवाँ, भला यह कौन-सी फिक्र है! खुदा के घर क्या मुफ्ती सदरुद्दीन बैठे हैं जो डिग्री करके पकड़वा मँगावेंगे।

जब मियाँ काले न रहे तब मिर्जा ने किसी मस्जिद के बाजू से एक घर लिया। घर मजिस्द से बिलकुल लगा हुआ था। किसी ने चिट्ठी लिखी कि उस्ताद, अब तो काले मियाँ न रहे, आपने कहाँ अड्डा जमाया है? जवाब दिया—

मस्जिद के जेरे साया एक घर बना लिया है?
ये बंदए कमीना हमसायए खुदा है!!

मस्जिद को भक्तजन 'खुदा का घर' कहते हैं। गालिब ने इसी कथन पर फबती कसते कहा है कि मैं खुदा का

पड़ोसी हो गया हूँ। इसी प्रसंग में गालिब ने अपनी एक प्रसिद्ध गजल का मतला कहा है।

मस्जिद के जेरेसाया खराबात चाहिए।
भौं पास आँख किबलए हाजात चाहिए॥

गोया मजिस्द के पास शराब की दूकान रहना जरूरी है!

जब मस्जिद का नाम आया तब मुझे नमाज और रोजे का ख्याल हो आया। गालिब ने कितनी नमाज पढ़ी और कैसे रोजे रक्खे, इसकी भी कैफियत सुन लीजिए। सन् ५७ के सिपाही-विद्रोह के बाद मिर्जा की पेंशन बन्द हो गई। कोई पण्डित मोतीलाल पंजाब सरकार के अनुवादक थे और गालिब की कविता के प्रेमी। उन्हीं दिनों दिल्ली आये, मिर्जा से मिलने गये। ये तो भरे बैठे ही थे, बात में बात निकली तो बोले, उम्र भर में एक दिन शराब न पी हो तो काफिर और एक बार भी नमाज पढ़ी हो तो मुसलमान नहीं!!! फिर मालूम नहीं सरकार ने मुझे बागी मुसलमानों में कैसे शुमार कर लिया।

रमजान का महीना था। आप एक नवाब के यहाँ बैठे थे, जो कट्टर मुसलमान और नमाज रोजे के बड़े पाबन्द थे। मिर्जा ने पान मँगाकर खाया तब नवाब साहब अचम्भे में आ गये। पूछा, आप रोजा नहीं रखते? गालिब ने जवाब दिया, 'शैतान गालिब है!" एक दोस्त को रमजान में खत लिखते हैं—"धूप बहुत तेज है। रोजा रखता हूँ, मगर रोजे को बहलाते रहता हूँ। कभी पानी पी लिया, कभी हुक्का भी लिया, कभी कोई टुकड़ा रोटी का खा लिया। यहाँ के लोग अजब फहम (बुद्धि) रखते हैं। मैं तो रोजा बहलाता हूँ और ये साहब फरमाते हैं कि तू रोजा नहीं रखता। यह नहीं समझते कि रोजा न रखना और चीज है और रोजा बहलाना और बात है।" रमजान गुजरने के बाद किला जाने का मौका मिला, तब सम्राट् बहादुरशाह ने पूछा, भाई गालिब, सच कहिए। इस बार कितने रोजे रक्खे? मिर्जा ने कहा, हुजूर 'एक' न रक्खा!

मिर्जा आम के बड़े प्रेमी थे। आमों की फसल में दूर-दूर से उनके मित्र और शिष्य टोकरियाँ भर-भर कर भेजते थे। कोई दोस्त न भेजता तो खुद तकाजा करके मँगवा लेते थे। एक बार मित्र-मंडली जमा थी, तो आमों की चर्चा चल निकली। सबने अपने-अपने ढंग से आमों की प्रशंसा की। किसी ने मिर्जा से पूछा, आपकी क्या राय है? मिर्जा ने कहा, भई मेरे जनदीक तो आम में सिर्फ दो बातें होनी चाहिए—मीठा हो और बहुत हो। सुनकर सब हँस पड़े। एक हकीम साहब मिर्जा के लँगोटिये यार थे, पर आम उन्हें बिल्कुल न भाते थे। एक दिन दोनों मकान के बरामदे में टहल रहे थे, तो एक गधेवाला अपने गधे लिये उधर से गुजरा। वहाँ आम के छिलकों का ढेर लगा था, गधों ने सूँघा और छोड़ दिया। हकीमजी बोले, देखा आपने गधे भी आम नहीं खाते। मिर्जा ने कहा, जी हाँ, गधे नहीं खाते!

सन् ५७ के बाद जब दिल्ली उजड़ गई तब मिर्जा ने रामपुर के गुणग्राहक नवाब कर्तबअलीखाँ की शरण ली। कुछ दिनों बाद गवर्नर से भेंट करने बरेली जाने लगे। जाते हुए मिर्जा से कहा—खुदा के सुपुर्द किया। इन्होंने कहा—खुदा ने तो मुझे आपके सुपुर्द किया है। खुदा के लिए अब मुझे 'खुदा' के सुपुर्द न कीजिए।

मिर्जा की भाषा अत्यन्त कठिन होती थी। एक तो दर्शन व रहस्यवाद का रंग गाढ़ा था, फिर भाषा की दुरूहता। करेला और नीम चढ़ा! इसलिए जन-साधारण इनकी कविता से बहुत घबराते थे। रामपुर में मौलवी अब्दुलकादिर बड़े हँसोड़ और मसखरे थे। मिर्जा से एक बार कहा कि आप का एक उर्दू शेर समझ में नहीं आता और इसी समय एक मनगढ़न्त शेर बनाकर सुना दिया—

पहले तू रोगने गुल भैंस के अंडे से निकाल।
फिर दवा जितनी हो कुल भैंस के अंडे से निकाल।

मिर्जा बड़े हैरान हुए, कहा, मेरे दीवान में तो यह शेर नहीं है। हकीमजी भी बड़े चलते हुए थे, अड़ ही तो गये। मिर्जा तब तो चुप हो गये, पर बाद में समझे कि मेरी कविता की दुर्बोधता पर आक्षेप करके जनाते हैं कि तुम्हारी कविता अनर्थवाद से भरी पड़ी है। मौलाना हाली का बयान है कि उस समय मिर्जा के कलाम की हँसी उड़ाई जाती थी और अनजान उस पर फबतियाँ कसते थे।

गई-गुजरी हालत में भी मिर्जा बड़े तपाकी थे। कविता में 'मीर' के करुण क्रन्दन की गूँज है तो चरित्र में भी वही आन-तान थी। एक दिन दीवान फजलुल्लाहखाँ पालकी पर सवार मिर्जा के मकान के आगे से बिना मिले गुजर गये। इन्हें मालूम हुआ तो नीले-पीले हो गये। एक चिट्ठी दीवानजी को लिख भेजी—'आज मैं ऐसा

लज्जित हुआ कि जमीन में गड़ा जाता हूँ। इससे बढ़कर और क्या नालायकी हो सकती है कि आप कभी न कभी तो इस तरफ से गुजरें और मैं सलाम को हाजिर न होऊँ।' इसे पढ़ते ही दीवानजी पानी-पानी हो गये और आकर क्षमा-याचना की।

उस जमाने में 'बुरहानुल्लुगात' नामक फारसी डिक्शनरी की बड़ी धूम थी। उसकी हर बात साहित्यिकों में प्रमाण मानी जाती थी। जब सन् ५८ में दिल्ली में विद्रोह हो रहा था उन दिनों मिर्जा घर की कुंडी अन्दर से लगाकर बैठ रहे। इसी अवधि में उन्होंने बिना किसी पुस्तक की सहायता से केवल अपनी स्मरण शक्ति के भरोसे 'कातए बुरहान' लिखकर उक्त लुगत की धज्जियाँ उड़ा दीं। इस पुस्तक ने साहित्य संसार में हलचल मचा दी। मिर्ज़ा पर आक्षेपों की बौछारें गिरने लगीं, बहुतों ने अश्लील गालियाँ भी दीं। किसी बिगड़े-दिल शागिर्द ने कहा, उस्ताद, इन कमबखतों ने आपको ऐसी भद्दी गालियाँ दीं तो भी आपने कोई जवाब न दिया। मिर्जा ने कहा, मियाँ, कोई गधा तुम्हें लात मारे तो क्या तुम भी उसे लात मारोगे।

मौलवी फजलहक मिर्जा के अंतरंग मित्र थे। एक एक दिन मौलवी साहब से भेंट करने गये। उनकी आदत थी कि कोई लँगोटिया यार मिलने आता तो 'खालिकबारी' का यह मिसरा पढ़ते—बेया बिरादर आओ रे भाई। मिर्जा को देखकर इसी की आवृत्ति की। मिर्जा तब तो चुप होकर बैठ रहे। कुछ देर बाद मौलवी साहब की रखैली सामने आई तो मिर्जा ने कहा, हाँ, भाई, अब दूसरे मिसरे को भी तो जरा दोहरा दो।

बे नशीं मादर बैठ री माई।

मौलवी साहब कट गये।

कभी मिर्जा के एक चाहनेवाले दर्शन के लिये आये। देर तक बात बीच हुई; जाने लगे तो सीढ़ी में अँधेरा घुप। हाथ को हाथ नहीं सुझाई पड़ता, जूती किस आँख से दिखे। टटोलते-फिसलते चलने लगे। मिर्जा ने यह रंग देखा तब रोशनी लेकर पीछे-पीछे आने लगे। यह देखकर मेहमान ने कहा, हजरत, आप फिजूल क्यों तकलीफ करते हैं, जूतियाँ ऐसे ही ढूँढ़ लेता। मिर्जा ने कहा, मियाँ, तुम्हारी जूती गुमने का मुझे गम न था, लेकिन डरा कि कहीं मेरी जूतियाँ पहनकर न चले जायँ।

एक दिन मिर्जा का जी कुछ बेहाल था, पलंग पर पड़े कराह रहे थे। मीर मेंहदी उन्हें बहुत मानते थे, आकर पैर दबाने लगे। मिर्जा ने कहा, हैं तू यह क्या करता है? सैयद के पैर दबाकर पाप ग्रस्त नहीं होना चाहता। जब मीर साहब ने बहुत अनुरोध किया तब इन्होंने कहा, अच्छा तू पैर दाबेगा, तो इसकी मजदूरी दूँगा। पैर दाब चुकने पर मीर मेंहदी ने कहा, उस्ताद, मेहनताना दिलवाइए। मिर्जा ने कहा, मियाँ कैसा मेहनताना? तुमने मेरे पैर दाबे, मैंने तुम्हारे पैसे दाबे, हिसाब बराबर हो गया!

मिर्जा के वाक्चातुर्य की कई किंवदन्तियाँ सुनी जाती हैं। कहते हैं कि जब अपनी पेंशन के झगड़े में मिर्जा कर्नल ब्राउन के आगे गये तब निराले ठाठ थे। सिर पर कुलाट और बदन पर मुगलई चोगा। यह आनतान देखकर कर्नल भी चक्कर में आ गया, पूछा, वेल, तुम मुसलमान है? मिर्जा ने कहा, आधा। कर्नल ने चकित होकर पूछा, इसका क्या मतलब? मिर्जा बोले, शराब पीता हूँ, सुअर नहीं खाता। कर्नल ने दाँत निपोर दिये।

एक बार ऋणभार ने बुरी तरह दबोचा तब कई जरूरी खर्च कम कर दिये। यहाँ तक कि शराब पीना भी छोड़ दिया। नवाब अलाउद्दीन के इशारे से मौलवी हमजाखाँ ने इसका सबब इस शेर की आड़ में पूछा—

चूँ पीर शुदी हाफिज अज् मैकदा बुरूँ शौ।
(अय हाफिज, तू बूढ़ा फूँस बना
शराबखाने से क्यों भाग आया?)

जवाब में मिर्जा लिखते हैं—

भाई को सलाम कहना और कहना कि साहब वह जमाना नहीं है कि इधर मथुरादास से कर्ज लिया, उधर दरबारी मल को जा मारा, इधर खूबचन्द चैनसुख की कोठी जा लूटी। हर एक के पास तमस्सुक मोहरी मौजूद, शहद लगाओ और चाटो, न मूल न सूद। इससे बढ़कर ये बात कि रोटी का खर्च बिलकुल फूफी के सिर। बाईंहमा (साथ ही साथ) कभी खान ने कुछ दे दिया, कभी अलवर से कुछ दिला दिया, कभी माँ ने कुछ आगरे से भिजवा दिया। अब मैं और ६२॥) कलेक्टरी के, सौ रुपया रामपुर के! कर्ज देनेवाला एक मेरा मुख्तारकार, वह सूद माह ब माह लेता है, मूल में किस्त उसे देनी पड़ी। इन्कमटैक्स जुदा, चौकीदार जुदा, सूद जुदा, मूल जुदा, बीबी जुदा, बच्चे जुदा! आमद वही एक सौ बासठ।

तंग आ गया, गुजारा मुश्किल हो गया, रोजमर्रा का काम बन्द रहने लगा, सोचा क्या करूँ, कहाँसे गुंजायश निकालूँ? कहरे, दरबेश बजाने दरबेश! सुबह की तबरीद (शराब पीने के बाद ठंडाई की चीजें) मतरूक (छोड़ दिया), चाश्त (दोपहर) का गोश्त आया, रात को शराबो गुलाब मौकूफ, बीस-बाईस रुपया महीना बचा, रोजमर्रा का खर्चा चला। यारों ने पूछा तबरीद की शराब कब तक न पियोगे? कहा गया कि जब तक वे न पिलावेंगे। पूछा कि न पियोगे तो किस तरह जियोगे? जवाब दिया कि जिस तरह वे जिलावेंगे। बारे महीना पूरा नहीं गुजरा था कि रामपुर से अलावह वजह-मुकर्ररी (नियत वेतन) के और रुपया आ गया। कर्ज मुकस्सत अदा हो गया, मुतफर्रिक रहा, खैर रहो। सुबह की तबरीद, रात की शराब जारी हो गई। गोश्त भी आने लगा। ...."

एक दिन छोटा लड़का खेलते-खेलते आकर जिद करने लगा कि दादाजान, मिठाई मँगवा दो। मिर्जा ने कहा, पैसा नहीं है। बच्चा भला क्यों मानता, सन्दूकची की तलाशी लेने लगा। मिर्जा को अपनी बेकसी पर अफसोस हुआ बोले—

दरमो दाम अपने पास कहाँ।
चील के घोंसले में माँस कहाँ।

दिल्ली और लखनऊ की कविता में एक विशेष अन्तर है। दिल्लीवालों में जो गम्भीरता और कल्पना की उड़ान है इसका जवाब लखनऊ की रसिकता और चूमा-चाटी में कहाँ? मीर, दर्द, मोमिन और जौक ने फारसी की रंगीली में हिन्दुस्तानी की सुघड़ाई इस निपुणता से मिलाई है कि एक बाँक सीधगी में, एक सीध बाँकपन में का मजमून हो गया है। नासिख, वजीर, रिन्द और सौदा ने उर्दू-जबान को खूब सँवारा-निखारा, पर उनकी आँखें खयाली माशूक की जुल्फों पर ही अटका कीं और कान बुलबुल के नाले व साकी की मस्ताना ठुमक का अमृतरस पीते रहे। सारांश यह कि दिल्लीवाले भावों पर जान देते थे और लखनऊ जबाँदानी का दिलदाद।

यही सबब है कि गालिब जब कभी दिल्लगी करते हैं तब सज्जनता की डोर थामे हुए, शराफत का पहलू लिये हुए। सौदा और नजीर व नासिख का व्यङ्ग्य व्यङ्ग्या-भास होकर रह गया है, पर गालिब के मजाक में एक मिठास है, एक सादापन है, एक निर्मलता है। पाँच-दस शेरों को छोड़कर गालिब का दीवान उस "प्रेमाभिचार" से पाक है जिसने उर्दू कविता को बदनाम कर रक्खा है। अफसोस है कि गालिब की कविता के संग्रहकर्ताओं की शुष्कता या अतिगम्भीरता के कारण उनकी व्यंग्य कविता का लगभग सभी अंश विस्मृति के गर्भ में विलीन हो गया। वर्ना यह बात तो मानी ही नहीं जा सकती कि मिर्जा जैसा हास्यप्रिय अपने हृदयोद्गार में इस गुण के जौहर न दिखाता। यत्र-तत्र दो-चार ऐसे शेर देखने में आ जाते हैं, जिनमें उनकी हँसोड़ तबीअत की झलक मौजूद है।

१९३०

❀ ❀ ❀

पुराणों पर एक दृष्टि

श्री विश्वेश्वरनाथ रेउ

शायद ही कोई धार्मिक हिन्दू ऐसा हो जो पुराणों के नाम से अभिज्ञता न रखता हो। हमारे शास्त्रों में उपपुराणों को छोड़कर महापुराणों की संख्या १८ मानी गई है। स्कन्द-पुराण में लिखा है—

तत्र शैवानि शैवञ्च भविष्यञ्च द्विजोत्तमाः।
मार्कण्डेयं तथा लैङ्गं वाराहं स्कांदमेव च॥
मत्स्यमन्यत्तथा कौर्मं वामनञ्च मुनीश्वराः।
ब्रह्माण्डं च दशेमानि त्रीणि लक्षाणि संख्यया॥

× × ×

१ शिवरहस्य—खण्ड, सम्भव-काण्ड।

विष्णोर्हि वैष्णवं तच्च तथा भागवतं तथा।
नारदीयं पुराणञ्च गारुडं वैष्णवं विदुः॥
ब्राह्मं पाद्मं ब्रह्मणो द्वे अग्नेराग्नेयमेककम्।
सवितुर्ब्रह्मवैवर्तमेवमष्टादश स्मृतम्॥

अर्थात् १ शिव, २ भविष्य, ३ मार्कण्डेय, ४ लिंग, ५ वाराह, ६ स्कन्द, ७ मत्स्य, ८ कूर्म, ९ वामन और १० ब्रह्माण्ड ये १० पुराण शिव की महिमा का वर्णन करते हैं। इनकी श्लोक-संख्या ३,००,००० है।

× × ×

१ विष्णु, २ भागवत, ३ नारदीय और ४ गरुड़ ये चार पुराण विष्णु की महत्ता का गान करते हैं। १ ब्रह्म और २ पद्म ये दोनों पुराण ब्रह्मा की श्रेष्ठता का प्रतिपादन करते हैं। इसी प्रकार अग्नि-पुराण में अग्नि की और ब्रह्मवैवर्त में सूर्य की महिमा दिखलाई गई है।

परन्तु इसी पुराण के केदार-खण्ड में लिखा है—

अष्टादशपुराणेषु दशभिर्गीयते शिवः।
चतुर्भिर्भगवान्ब्रह्मा द्वाभ्यां देवी तथा हरिः॥

अर्थात् १८ पुराणों में से दस में शिव की, चार में ब्रह्मा की, दो में देवी की, और दो में विष्णु की महिमा का वर्णन है।

फिर विद्वान् लोग शिव से सम्बन्ध रखनेवाले उपर्युक्त १० पुराणों में से पद्म और वाराह-पुराण का सम्बन्ध विष्णु से, अग्नि-पुराण का सम्बन्ध शिव से और ब्रह्माण्ड ब्रह्मवैवर्त, मार्कण्डेय, भविष्य और वामन-पुराण का सम्बन्ध ब्रह्मा से मानते हैं।

इसके अलावा कुछ विद्वान् वायु और शिवपुराण को और कुछ वायु और ब्रह्माण्ड-पुराण को एक ही पुराण के अंश मानते हैं। तथा भागवत के स्थान पर देवी-भागवत को महापुराणों में स्थान देते हैं।

शास्त्रों में पुराण का लक्षण इस प्रकार दिया है:—

सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च।
वंशानुचरितं चैव पुराणं पंचलक्षणम्॥

अर्थात् जिसमें आदि सृष्टि का, बाद की सृष्टि का, (देवताओं आदि के) वंशों का, १४ मनुओं के समय का, और सूर्य और चन्द्रवंशी नरेशों का हाल हो उसे पुराण कहते हैं।

परन्तु नारदीय, वामन आदि कुछ पुराणों में इन लक्षणों की अव्याप्ति-सी नज़र आती है।

अब हम यहाँ पुराणों की प्राचीनता के विषय में विचार करते हैं—

अलबेरूनी ने जिसका समय विक्रम-संवत् १०८७ (ई० सन् १०३०) के करीब था, अपने यात्रा-विवरण में पुराणों का उल्लेख किया है।

बाण के "हर्षचरित" में, जो विक्रम की सातवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध (ई० सन् की सातवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध) में बना था, 'पवन-प्रोक्त पुराण' का उल्लेख है। इससे शायद वायु, शिव या ब्रह्माण्डपुराण का तात्पर्य हो।

'मलिन्द पन्हो' नामक बौद्ध-ग्रन्थ से जो शायद विक्रम की तीसरी शताब्दी में बना था, उस समय पुराणों का विद्यमान होना पाया जाता है।

कौटिल्य के अर्थशास्त्र में जो मौर्यकाल (विक्रम-संवत् से २४० वर्ष पूर्व के आसपास) में बना था, लिखा है—

पुराणमितिवृत्तमाख्यायिकोदाहरणं धर्मशास्त्रमर्थशास्त्रं चेतिहासः॥

(अधि० १ अध्याय ५ प्रकरण २)

इससे उस समय भी पुराणों का विद्यमान होना पाया जाता है।

शतपथ-ब्राह्मण में लिखा है—

तानुपदिशति पुराणं वेदः सोयमिति किञ्चित्पुराणमाचक्षीतैवमेवाध्वर्युः।

(१३।४।३।१३)

अर्थात् अध्वर्यु उनको पुराण वेद है ऐसा उपदेश कर पुराण का कुछ भाग सुनाता है।

अथर्व-वेद में लिखा है—

इतिहासस्य च वै स पुराणस्य च गाथानां च नाराशंसीनां च प्रियं धाम भवति य एवं वेद।

(का० १५, अनु० १ प्र० ६ मं० १२)

अर्थात् जो ऐसा जानता है वह इतिहास, पुराण, गाथा और नाराशंसी का प्यारा होता है।

इन सब अवतरणों से स्पष्ट प्रकट होता है कि हमारे यहाँ पुराणों का अस्तित्व बहुत प्राचीनकाल से चला आता है।

---

२. मिस्टर पार्जिटर का मत है कि वायु और ब्रह्माण्ड-पुराण पहले एक ही थे।

मत्स्यपुराण में लिखा है—

पुराणमेकमेवासीत्तदा कल्पान्तरेऽनघ!
त्रिवर्गसाधनं पुण्यं शतकोटिप्रविस्तरम् ॥

(अध्या० ५३ श्लोक ४)

अर्थात् पहले पुराण एक ही था।

यह कहाँ तक ठीक है इस विषय में निश्चित रूप से तो कुछ कहना कठिन ही है। परन्तु एक पुराण के श्लोकों या उसके भावों को दूसरे पुराण में देखकर ऐसा सन्देह करने की गुंजाइश अवश्य प्रतीत होती है।

मिस्टर एफ० ई० पार्जिटर का मत है कि यद्यपि मत्स्य, वायु अथवा ब्रह्माण्ड आदि पुराण पहले से ही विद्यमान थे, तथापि कलियुग के राजवंशों का वर्णन उन सबमें भविष्य-पुराण से ही लिया गया है। इसकी पुष्टि में उन्होंने उक्त पुराणों के कुछ वचन उद्धृत किये हैं। यथा—

"तान्सर्वान् कीर्तयिष्यामि भविष्ये कथितान्नृपान्"

अथवा

"भविष्ये ते प्रसंख्याताः पुराणज्ञैः श्रुतर्षिभिः।"

परन्तु आजकल मिलनेवाले भविष्य-पुराण की वह ऐतिहासिक उपयोगिता बिलकुल नष्ट हो गई है। हाँ, मत्स्य, वायु और ब्रह्माण्ड के पुराणों में अब भी बहुत-कुछ ऐतिहासिक सामग्री मिलती है।

हर्ष का विषय है कि पाश्चात्य विद्वान् भी जो पहले पुराणों को आधुनिक और निरर्थक मानते थे, अब उनकी प्राचीनता और उनमें से कुछ में दिये ऐतिहासिक विवरणों को अंगीकार करने लगे हैं। फिर यह तो मानना ही होगा कि समय-समय पर लोगों ने पुराणों में मनमानी बातों को घुसेड़कर उनका रूप ही बदल दिया है और इसी से उनके असली रूप का दर्शन दुर्लभ हो गया है। यद्यपि उनमें के बहुत-से उपाख्यान वेदों में वर्णित घटनाओं को आलंकारिक रूप देकर ही लिखे गये थे, तथापि अन्य अनेक स्थानों पर साम्प्रदायिकता के कारण बड़ा गड़बड़ कर दिया गया है। साथ ही पुराणों की प्राचीनता को कायम रखने के लिए पिछले लेखकों ने अपने समय की भूत अथवा वर्तमान बातों को भी भविष्यत् का रूप देकर उनमें घुसेड़ दिया है। पुराणों का अध्ययन करनेवालों को ऐसी बातों के ढूंढ़ निकालने में विशेष कठिनता न होगी। कलियुग में होनेवाले राजवंशों का वर्णन भी इसी का एक उदाहरण समझना चाहिए।

वायु-पुराण में एक स्थान पर लिखा है—

अनुगङ्गं प्रयागं च साकेतं मगधांस्तथा।
एतान्जनपदान्सर्वान् भोक्ष्यन्ते गुप्तवंशजाः॥

अर्थात् गंगा के नजदीक के प्रदेशों पर प्रयाग में, साकेत में और मगध में गुप्तवंशियों का राज्य होगा।

परन्तु वास्तव में देखा जाय तो यह श्लोक गुप्तराज्य के समय अथवा उसके बाद ही उक्त पुराण में जोड़ा गया होगा।

इसी प्रकार वाराह-पुराण में रामानुज-सम्प्रदाय के भावों का, स्कन्द-पुराण में जगन्नाथ-माहात्म्य का और कूर्म-पुराण में तान्त्रिक मत का समावेश भी पीछे से ही किया गया है। यद्यपि श्रीमद्भागवत में कहीं भी 'राधा' का उल्लेख नहीं हुआ है, तथापि देवी-भागवत में उसके चरित्र को स्थान दिया गया है। स्कन्द-पुराण के रेवा-खण्ड में सत्यनारायण-कथा का उल्लेख न होने पर भी उसके लेखक ने उसे उक्त पुराण का अंश लिख दिया है।

व्यास और सूत के बाद के अर्वाचीन लेखकों की कृपा के कारण पुराणों में और भी ऐसी अनेक बातें ढूंढ़ने से मिल सकती हैं।

यहाँ हम विद्वानों के विचारार्थ एक उपाख्यान उद्धृत करते हैं—

अवद्रप्सो अंशुमतीमतिष्ठदियानः कृष्णो दशभिः सहस्रैः।
आवत्तमिन्द्रः शच्या धमन्तमपस्नेहितीर्नृमणा अधत्त ॥१३॥
द्रप्समपश्यं विषुणे चरन्तं मुपह्वरे नद्यो अंशुमत्याः।
नभो न कृष्णमवतस्थिवांसमिष्यामि वो वृषणो युध्यताजौ ॥१४॥
अधद्रप्सो अंशुमत्या उपस्थे धारयत्तन्वं तित्विषाणः।
विशो अदेवीरभ्याचरन्तीर्बृहस्पतिना युजेन्द्रः ससाहे ॥१५॥

(ऋग्वेद, मं० १, अ० १०, सू० ८५)

सायणाचार्य ने ऋग्वेद के इन मन्त्रों का अर्थ इस प्रकार किया है—

कृष्ण नामक असुर बड़ा तीव्रगामी था और दस हजार असुरों के साथ अंशुमती-नदी के तीर पर रहता था। इन्द्र ने उसके पास पहुँच विज्ञान के बल पर जल के भीतर रहनेवाले (अथवा जगत को डरानेवाला शब्द करनेवाले) उस कृष्ण की सेना को और उसको मार डाला।

इन्द्र बोले—हे देवताओ! उस शीघ्रगामी कृष्ण को जो विकट स्थान में विचरण करता है और आकाश में सूर्य के समान अंशुमती-नदी के छिपे स्थान में (अर्थात् जल में) रहता है, मैंने देखा। इसलिए हे देवताओ! मैं चाहता हूँ कि तुम उससे युद्ध करो।

इसके बाद इन्द्र ने बृहस्पति के साथ उस द्रुतगामी कृष्ण के जो अंशुमती[१] नदी के तीर पर दीप्यमान था और जो अपने शरीर को शत्रुओं से अजेय रखता था (अथवा जो खा-पीकर पुष्ट हो रहा था), पास पहुँच उसकी आती हुई उस दुष्ट सेना को मार डाला।

आगे सायणाचार्य ने लिखा है—

'तमवधीदित्यर्थः प्रसंगादवगम्यते'

अर्थात् प्रसंग से जाना जाता है कि इन्द्र ने कृष्ण को भी मार डाला।

इसी प्रकार भागवत के दशमस्कन्ध के २४वें और २५वें अध्यायों में 'गोवर्धन-पूजन' की कथा लिखी है। उसमें लिखा है—

"कृष्ण के कहने से नन्द आदिकों ने इन्द्र की पूजा को छोड़कर गोवर्धन-पर्वत की पूजा की। उस समय जो बलि दी गई थी उसे स्वयं कृष्ण ने ही दूसरा बृहत् रूप धारण कर ग्रहण किया था। इसी से क्रुद्ध होकर इन्द्र ने गोप लोगों को नष्ट करने के लिए 'सांवर्तक' मेघों को गोकुल पर प्रलयंकरी वृष्टि करने की आज्ञा दी। परन्तु जब उस वृष्टि को देखकर गोप-लोग घबराने लगे तब कृष्ण ने गोवर्धन-पर्वत को हाथ पर उठाकर उन लोगों को उसके नीचे छिपा लिया। इस प्रकार बराबर सात दिन बीत जाने पर इन्द्र का गर्व खण्डित हो गया।"

उपर्युक्त दोनों उपाख्यानों में प्रत्यक्ष विरोध होते हुए भी कहाँ तक सादृश्य दिखाई देता है इस पर विद्वान् लोग विचार कर अपना मत प्रकट करने का कष्ट स्वीकार करेंगे।

मिस्टर पार्जिटर का मत है कि पुराण पहले-पहल प्राकृत-भाषा और 'खरोष्ठी' लिपि में लिखे गये थे। इसके लिए उन्होंने जो प्रमाण दिये हैं वे इतने जोरदार नहीं हैं कि उन पर तर्क करने की गुंजाइश ही न हो। यह तो निर्विवाद ही है कि समय-समय पर अनेक लोगों ने अपनी रचना-चातुरी के नमूने पुराणों में प्रविष्ट किये हैं। ऐसी हालत में कहीं-कहीं 'छन्दोभंग के दोषों', 'सन्धि-दोषों', 'प्राकृतशब्द-प्रयोगों' आदि को देखकर उनका सर्व-प्रथम प्राकृत में बनाया जाना मान लेना कुछ अधिक संगत प्रतीत नहीं होता। इसी प्रकार पुराणों की किसी हस्त-लिखित पुस्तक में 'अशोक' के स्थान पर 'अयोद' लिखा देखकर यह मान लेना कि पुराण पहले-पहल 'खरोष्ठी' लिपि में ही लिखे गये थे कहाँ तक युक्तिसंगत है, इस पर विद्वान् स्वयं विचार कर सकते हैं। हमारी समझ में 'खरोष्ठी' के सिवा अन्य लिपियों में भी लेखक-दोष से 'श' का 'य' पढ़ा जाना कुछ असम्भव नहीं है। यही हाल अन्य उदाहरणों का भी है।

हाँ, इतना अवश्य कह सकते हैं कि मिस्टर पार्जिटर ने जो कुछ लिखा है, पुराणों की ६३ हस्तलिखित पुस्तकों को अच्छी तरह से देख-भालकर ही लिखा है। फिर भी उनकी ये बातें विचारणीय अवश्य प्रतीत होती हैं।

१. अंशुमान् सूर्य का नाम है और यमुना सूर्य-कन्या मानी गई है।

२. ऋग्वेद संहिता पृ० ५१५।

१९३०

❀ ❀ ❀

चौरासी सिद्ध

श्री राहुल सांकृत्यायन

'चौरासी सिद्ध' शब्द अब भी बिहार और युक्त प्रान्त में सर्वसाधारण तक में प्रसिद्ध है, तो भी चौरासी-सिद्धों के नाम कोई भी नहीं बतला सकता। एक ओर ये ही चौरासी-सिद्ध हिन्दी के आदि कवि हैं तो दूसरी ओर बौद्ध धर्म में वज्रयान-सम्प्रदाय की नींव डालकर भयंकर क्रान्ति करनेवाले भी ये ही हैं। भारत के साधकों में अनेक प्रसिद्ध 'आसनों' और 'मुद्राओं' के प्रचार करनेवाले भी ये ही थे। भैरवीचक्र तथा गुह्य समाजों को एक समय लोकप्रिय कर देने का भार भी इन्हीं को प्राप्त था। हजारों मंत्र-तंत्र और सैकड़ों वीभत्स देवी-देवताओं के स्रष्टा भी ये ही थे। इस प्रकार इतिहास, साहित्य, योग, वाम-मार्ग, मंत्र-शास्त्र, दर्शन आदि कई दृष्टियों से इन पर विचार किया जा सकता है। परन्तु इस छोटे से लेख में इन सब विषयों की चर्चा नहीं हो सकती।

चौरासी सिद्धों पर प्रकाश डालनेवाली अधिकांश सामग्री भोटिया (तिब्बती) भाषा में है, कुछ थोड़ी सामग्री नैपाल से भी मिल सकती है। दोनों देशों में जो आजकल बौद्ध-धर्म है वह वस्तुतः चौरासी सिद्धों का प्रचारित धर्म है। सिद्धों को गुरु भी कहते हैं। भोटिया शब्द 'लामा' का भी अर्थ गुरु है। तिब्बत के लामाओं का धर्म उत्तरी भारत के आठवीं से ग्यारहवीं शताब्दी के बौद्ध-धर्म का बहुत कुछ शुद्ध प्रतिनिधि है। भारत में हमारे समाज के अन्तस्तल में अब भी सिद्धों का धर्म दूसरे नाम से कुछ फेर के साथ वर्तमान है। आजकल के बहुत से सम्प्रदाय यह जानकर हैरान होंगे कि उनके पारिभाषिक शब्द, उनकी रहस्य-क्रियायें, भावनायें जाकर इन्हीं सिद्धों में मिलती हैं। सिद्ध सभी के सभी वाममार्गी थे। यद्यपि यही बात तिब्बत में सुनी जाती है, तो भी उनकी दूसरे प्रकार की शुद्ध गम्भीर कृतियों के देखने से दिल इसे सहसा मान लेने को तैयार नहीं होता कि वे वाममार्गी थे। भावना और शब्द-साखी में कबीर से लेकर राधास्वामी तक के सभी सन्त चौरासी सिद्धों के ही वंशज कहे जा सकते हैं। कबीर का प्रभाव जैसे नानक तथा दूसरे सन्तों पर पड़ा और फिर उन्होंने अपनी अगली पीढ़ी पर जैसे प्रभाव डाला, इसको शृङ्खलाबद्ध करना कठिन नहीं है। किन्तु कबीर का सम्बन्ध सिद्धों से मिलाना उतना आसान नहीं है, यद्यपि भावनाओं, रहस्योक्तियों, उल्टी बोलियों की समानता में बहुत स्पष्ट है। फ़र्क़ इतना ही है कि कबीर 'साकट' को फूटी आँख से भी नहीं देख सकते जब कि ये 'सिद्ध' बहुत हद तक शाक्त ही कहे जा सकते हैं। इनकी भी बहुत-सी प्रिय देवता-देवियाँ ही वज्रतारा, वज्रयोगिनी, विजया, वाराही, कुरुकुल्ला आदि देवियाँ ही थीं। भोटिया-साहित्य की सहायता से हम इनकी धारा को बारहवीं-शताब्दी तक ला सकते हैं। लेकिन बाद की कबीर तक की तीन शताब्दियों का भरना असम्भव-सा ही मालूम होता है।

चौरासी सिद्धों में से कितनों पर कुछ बंगाली विद्वानों ने प्रकाश डाला है, किन्तु एक तो मूल तिब्बती सामग्री उनके पास पर्याप्त नहीं, अनुवाद भी पुराने और अधूरे हैं, दूसरे सबसे बड़ा दोष उनका प्रान्तीय पक्षपात है, जिससे वहाँ के बड़े विद्वान् भी बरी नहीं हैं। जिस प्रकार अभी कल तक विद्यापति सोलहो आने बंगाली माने जाते थे, वैसे ही आजकल चौरासी सिद्ध भी बंगला भाषा के आदि कवि समझे जा रहे हैं। यद्यपि उनके सम्बद्ध पीठ नालन्दा और विक्रमशिला का ही खयाल किया गया होता तो मालूम हो जाता कि उन पर बंगाल से अधिक दावा बिहार का हो सकता है। इन बातों पर विशेष विवेचना तो एक-एक सिद्ध को ही लेकर हो सकती है।

सिद्धों की परम्परा को हम मोटे तौर से बिहार के पाल-वंश के साथ उत्पन्न और समाप्त मान सकते हैं। इनके चौरासी नामों की तालिका में हम प्रथम नाम 'लुईपा' का पाते हैं, यद्यपि काल-क्रम के अनुसार नागार्जुन का नाम पहले होता है। सिद्धों के आदि गुरु नागार्जुन महायान माध्यमिक सम्प्रदाय के संस्थापक कभी नहीं हो सकते। यह या तो कल्पित नाम है या यदि कोई सिद्धाचार्य इस नाम का हुआ है तो वह पुराने नागार्जुन के चार-पाँच शताब्दियों के बाद हुआ है। पंकज, नागबोधि और लुईपा सबसे पुराने सिद्ध हैं, जिनका काल सातवीं शताब्दी

का अन्त है। नारोपा और उनके शिष्य कुसुली अन्तिम सिद्ध हैं। कुसुली कई हुए हैं, इसलिए नारोपा का शिष्य ८४ सिद्धों में एक है या दूसरा यह कहना अभी मुश्किल है। नारोपा दीपंकर श्रीज्ञान के गुरुओं में थे। और इस प्रकार उनका समय दसवीं शताब्दी का अन्त माना जा सकता है। इस प्रकार चौरासी सिद्धों का समय यही तीन सौ वर्ष है। तिब्बती तंजूर में उनकी पूरी नामावली तथा उनके कुल और समय का उल्लेख हुआ है।

इन सिद्धों में कितने ही संस्कृत के धुरंधर पण्डित और ग्रन्थकार थे। कवि होना तो मानो सिद्ध होने के लिए अनिवार्य था, और सो भी देशी भाषा का कवि। मातृ-भाषा की इनकी कवितायें अधिकतर दोहा-गीति या दोहा-कोष-गीति, वज्रगीति, दृष्टि या चर्या-गीति के नाम से प्रसिद्ध हैं। पुराने हिन्दी महाकवियों के लिए रीति-ग्रन्थ लिखना जैसे आवश्यक था, वैसे ही इन सिद्धों में दोहा-कोष लिखना भी आवश्यक था। लुईपा, सरहपा और कण्हपा के दोहा-कोष तिब्बत में 'दोहा-कोखा सुम्' (=तीन दोहा कोष) के नाम से प्रसिद्ध हैं।

वज्रगीतियों में कण्हपा, नाडपा और शवरीपा की अधिक प्रसिद्धि है। चर्यागीति, महामुद्रागीति आदि नाम से बहुत से इनके गीत भी हैं। कुछ गीतों का अब भी नैपाली बौद्धों में प्रचार है। किन्तु उनकी भाषा बहुत बदल दी गई है।

इन सिद्धों की कवितायें एक विचित्र आशय की भाषा को लेकर होती हैं। इस भाषा को सन्ध्या-भाषा कहते हैं, जिसका अर्थ अँधेरे में (वाममार्ग) में तथा उजाले (ज्ञान-मार्ग, निर्गुण) दोनों में लग सके। सन्ध्या-भाषा को आज-कल के छायावाद या रहस्यवाद की भाषा समझ सकते हैं। सरह और कण्ह के दोहा-कोषों तथा कितने ही सिद्धों की फुटकर कविताओं के संग्रह चर्याचर्यविनिश्चय को महा-महोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री ने "बौद्धगान व दोहा" के नाम से बंगला में छपवाया है। भोटिया तंजूर में कण्हपा के वज्रगीति का ही मूल मिलता है। नैपाली लोगों की पूजा में गाये जानेवाले भजनों के 'चचो' नामक संग्रहों में भी बहुत से गीत चौरासी सिद्धों के मिलते हैं। मैंने चचो की जो कापी करवाई है उसमें आजकल के गाने का उच्चारण आदि हो गया है, इसी लिए शुद्ध तत्कालीन भाषा नहीं है। महामहोपाध्यायजी ने पुराने हस्तलिखित ग्रन्थ के आधार पर पुस्तक को सम्पादित किया है, इसलिए उनके उच्चारण आदि बहुत कुछ पुराने जैसे हैं।

यहाँ भुसुक की कविता के कुछ उद्धरण देता हूँ। भुसुक का दूसरा प्रसिद्ध नाम शान्तिदेव है। शान्तिदेव बोधि-चर्यावतार, शिक्षा-समुच्चय नामक संस्कृत के दो उपलभ्य ग्रन्थों तथा सूत्र-समुच्चय के यशस्वी लेखक हैं। कहते हैं, नालन्दा में एक दिन महाराज देवपाल के मुँह से यह नाम निकल आया और तभी से शान्तिदेव का नाम भुसुक पड़ गया।

*राग बराडी ॥२१॥

निसि अन्धारी सुसार चारा।
अमिय भखअ मूसा करअ अहारा ॥ध्रुव ॥
मार रे जोइया मूसा पवना।
जेण तूटअ अवणा गवणा ॥ध्रु० ॥
भव विदारअ मूसा खणअ गती।
चंचल मूसा कलिआँ नाश करवाती ॥ध्रु० ॥
काला मूषा उह ण वाण।
गअणो उठि चरअ अमण धाण ॥ध्रु० ॥
तव से मूषा उञ्चल पाञ्चल।
सद्गुरु बोहे करिह सो निच्चल ॥ध्रु० ॥
जबें मूषा एरचा तूटअ ॥
भुसुक भणअ तबें बान्धन फिटअ ॥ध्रु० ॥

---

*छाया :—

निसि अँधियारी संसार संचारा।
अमिय-भक्ख मूसा करत अहारा ॥
मार रे जोगिया मूसा पवना।
जेहिते टूटइ अवना गवना ॥
भव विदार मूसा खनइ खाता।
चंचल मूसा करि नाश..... ॥
काला मूसा उरध न बन।
गगने डीठि करइ मन-बिनु ध्यान ॥
तब सो मूसा चंचल-वंचल।
सत गुरु बोधे करु सो निहिचल ॥
जबहिं मूसा आचार टूटइ।
भुसुक भनत तब बंधन यू फाटइ ॥

*राग बडारी ॥२३॥
जइ तुज्झे भुसुक अहेइ जाइबें मारिहसि पंचजना।
मलिनी-वन पइसन्ते होहिसि एकुमणा॥ध्रु०॥
जीवन्ते भेला विहणि मएल णअणि।
हण-विणु माँ से भुसुक पद्म-वन पइसहिणि॥ध्रु०॥
माआजाल पसरिउ ऊरे बाधेलि माआ-हरिणी।
सद्गुरु बोहें बूझि रे कासू कदिनि॥
†राग कामोद ॥२७॥
अध-रात भर कमल विकसउ।
बतिस जोइणी तसु अँग उण्हसि॥ध्रु०॥
चालि उअ षषहर मागे अवधूई।
र अणहु षरजे कहेई॥ध्रु०॥
चालिअ षषहर गउ निवाणें।
कमलिनि कमल कहइ पणालें॥
विरमानन्द विलक्षण सूध।
जो एथु बूझइ सो एथु बुध॥ध्रु०॥
भूसुक भणइ मह बूझिआ मेलें।
सहजानन्द महा-सुह लेलें —ध्रु०॥

सरहपा के कुछ दोहों के नमूने
*सरहपा दोहा-कोष पृष्ठ १०६

अणिमिष लोअण चित्त निरोधें।
पवन णिरु हइ सिरि गुरु बोहें॥
पवन बहइ सो निच्चलु जब्बें।
जोइ कालु करइ कि रे तब्बें॥

†पृष्ठ ११७
घोरे न्धारे चन्दमणि जिम उज्जोअ करेइ।
परम महा-सुह एखुक्खणे दुरिआ शेप हरेइ॥

कण्हपा के दोहा-कोष के कुछ दोहे—
‡लोअइ जब्ब समुब्बहइ हउ परमथे पवीन।
कोटिह माह एक जत होइ निरंजन-लीन॥
आगम-बेअ-पुराणे पंडिउ मान बहन्ति।
पक्क सिरिफल अलिअ जिम, वाहेरित भ्रमयन्ति।

उपर्युक्त उदाहरणों से सिद्धों में से कुछ सिद्धों की रचना का ही परिज्ञान नहीं होता है, किन्तु उनका हिन्दी के अति प्राचीन रूप से सम्बन्ध भी प्रकट होता है। हिन्दी के भाषा-विज्ञानियों का, आशा है, इस ओर ध्यान आकृष्ट होगा। सिद्ध की इन रचनाओं से हिन्दी के आरम्भिक रूप के स्पष्ट करने में उन्हें बड़ी सहायता मिलेगी।

---

*छाया :—
जो तोहिं भूसुक जाना मारहु पंच-जना।
नलिनी-वन पइसन्ते होहिसि एकु-मना॥
जीवत भइल बिहान मरि गेल रजनी।
हाड़-विनु माँसे भूसुक पदुम-वन पइसिहनि॥
माया-जाल पसारे ऊ रे बाँधेल माया-हरिणी।
सद्गुरु बोधे बूझी कासों कथनी॥

†छाया :—
अर्ध रात भर कमल विकस्यो।
बतिस जोगिनी तब अँग हुलस्यो॥
चलिके शश-धर (चंद्र)-मग अवधूती।
रतनहु सहज कहाई॥
चलिके शश-धर गयो निर्वाणे।
कमलिनि कमल कहइ पनाली॥
विरमानन्द विलच्छन सुद्ध।
जो इहँ बूझइ सो इहँ बुध (पंडित)
भूसुक भनत मैं बूझी मिलिके।
सहजानन्द महासुख लेलें॥

*अनिमिषि-लोचन चित्त निरोधे।
पवन निरोधइ श्रीगुरु बोधें॥
पवन बहै सो निश्चल जबै।
जोगी काल करै का तबै॥

†घोर अँधारे चन्द्रमणि जिमि उजोत करेय।
परम महासुख एक छिनहिं दुरित (पाप) अशेष हरेय॥

‡लोक गर्व समुद्वहन करता है क्योंकि परमार्थ में प्रवीण होकर, कोटि में एक निरञ्जन में लीन होता है। आगम वेद पुराण में पंडित अभिमान करते हैं, पके श्रीफल के बाहर जैसे भ्रमर भ्रमण करते हैं॥

१९३१

❀ ❀ ❀

हिन्दू-शब्द

श्री भाई परमानन्द, एम० ए०

आरम्भ में ही बड़ी कठिनाई हमारे सामने यह आती है कि 'हिन्दू' किसे कहा जाय। बहुत से लोगों ने हिन्दू का लक्षण करने का यत्न किया है। मुझे याद है कि सन् १९०१ में कांग्रेस के वार्षिक अधिवेशन पर लोकमान्य तिलक लाहौर पधारे। उन दिनों पंजाब में आर्यसमाज और सनातन धर्म-सभा की बहुत चर्चा थी। लोकमान्य ने सनातन धर्म-सभा की ओर से एक विद्वत्तापूर्ण व्याख्यान दिया। उसमें उन्होंने हिन्दू के लक्षण करने की कठिनाई का जिक्र करते हुए कहा कि मैं हिन्दू उसे समझता हूँ जिसका वेद पर विश्वास हो। लोकमान्य के चित्त में यह विचार था कि जैसे मुसलमान और ईसाई अपने अपने विशेष धर्म-ग्रन्थ को मानते हैं, वैसे ही वेद हिन्दुओं के लिए धर्म-ग्रन्थ समझा जाना चाहिए।

जिन दिनों भारत में हिन्दू-मुस्लिम फसादों का चक्र जारी हुआ और कई स्थानों के हिन्दुओं पर बड़े-बड़े अत्याचार हुए तब पण्डित मदनमोहन मालवीयजी ने बनारस में हिन्दू नेताओं को एकत्र किया और हिन्दू-संगठन के आन्दोलन की नींव रक्खी। इस अवसर पर हिन्दू-शब्द का लक्षण करना आवश्यक था, इसलिए निर्णय किया गया कि हिन्दू वह है जो हिन्दुस्तान में उत्पन्न हुए किसी मज़हब का माननेवाला हो। इसका अभिप्राय यह था कि न केवल भारतवर्ष के प्रत्युत बर्मा, स्याम आदि देशों के बौद्ध और जैन भी हिन्दू ही समझे जायँ।

इन दोनों लक्षणों में मज़हब का अधिक आश्रय लिया गया है। मैं समझता हूँ कि हिन्दू-शब्द जातिवाचक है। इसका मज़हब से कोई सम्बन्ध नहीं है। इसलिए इसका उत्तम लक्षण वह है जो श्रीयुत् विनायक दामोदर सावरकर ने अपनी पुस्तक 'हिन्दुत्व' में किया है। उनका कहना है कि हिन्दू वह है जो भारतवर्ष को अपनी पितृ-भूमि तथा पुण्य-भूमि मानता है। यदि हम इस शब्द की उत्पत्ति और पिछले इतिहास पर एक दृष्टि डालें तो मालूम होगा कि केवल यही लक्षण हिन्दू-शब्द पर ठीक घट सकता है।

इस शब्द की उत्पत्ति के सम्बन्ध में लोगों के अन्दर कई प्रकार के सन्देह पाये जाते हैं। कहा जाता है कि हिन्दू-शब्द किसी संस्कृत-ग्रन्थ में नहीं आता है। इस शब्द के अर्थ—चोर, काफ़िर, भीरु आदि हैं, इसलिए जब मुसलमानों ने इस देश को जीता तब लोगों को घृणित समझ कर उनको इस अपशब्द से बुलाना आरम्भ किया। इस ख़याल को मैं बिलकुल गलत समझता हूँ। मुसलमानों के आने से पूर्व चीनी यात्री इस देश में आये। उनसे भी एक हज़ार बरस पहले यूनानी आये और यूनानियों से भी चिरकाल पहले इस देश का ईरानियों से गहरा मेल-जोल था। ईरानियों के धर्म-ग्रन्थ 'जंद अवस्ता' में यहाँ के लोगों के लिए हिन्दू-शब्द आता है। कारण यह है कि सिन्धु-नद से, जो एक समय इस देश को ईरान से जुदा करता था, इस पार के रहनेवालों का नाम 'सिन्धु' पड़ गया। ईरानी-भाषा में संस्कृत का 'स' 'ह' से बदलकर 'सिन्धु' 'हिन्दु' बन गया। यूनानियों ने 'ह' छोड़ दिया। इससे 'हिन्दु' 'इन्दु' बन गया। इसी 'इन्दु' शब्द से इन्द (Ind), इंडिया, इंडियन आदि शब्द निकले हैं। इटली का प्रसिद्ध कवि वर्जिल इस देश का वर्णन इन्द (Ind) नाम से करता है। इसी लिए यह कहना कि मुसलमानों ने हमको हिन्दू नाम दिया, बड़ी भारी भूल है। पहला मुसलमान आक्रमणकारी महमूद अपने साथ अल्बरूनी नाम के एक बड़े विद्वान् को लाया। अल्बरूनी ने हिन्द पर अरबी-भाषा में एक बड़ी पुस्तक लिखी। इस किताब में अल्बरूनी बार-बार लोगों की हिन्दू-नाम से प्रशंसा करता है। इसमें हिन्दुओं के लिए लेशमात्र भी घृणा का भाव नहीं पाया जाता।

उत्पत्ति को छोड़कर यदि हम इस शब्द के इतिहास को देखें तब भी यही प्रतीत होगा कि न केवल विदेशियों ने प्रत्युत देशवासियों ने भी हिन्दू-नाम का प्रयोग बड़े अभिमान के साथ किया है। चीनी यात्री ह्वेनसांग जो सातवें शतक में भारत में आया, इस शब्द पर टीका करते हुए एक जगह लिखता है कि हिन्दू-शब्द वास्तव में इन्दु है, जो चीनी-भाषा में इन्तु कहा जाता है और जिसका अर्थ चाँद है। जब सारी पृथ्वी पर अन्धकार छाया हुआ था, आकाश में तारों की मध्यम-सी झलक इस अन्धकार को न हटा सकती थी, तब इस देश ने पृथ्वी पर चाँद के समान

प्रकाश फैला दिया। इसी लिए यहाँ के रहनेवालों को इन्दु (हिन्दु) कहते हैं और इस देश का नाम हिन्दुस्तान है। अपने देशवासियों में चन्दबरदाई ने अपनी पुस्तक पृथ्वीराजरासो में हिन्दू-शब्द का उल्लेख किया है। उसमें पृथ्वीराज 'हिन्दू-अधिपति' से संबोधित किये गये हैं। इसी प्रकार हम महाराना प्रताप के जीवन में कमजोरी की एक घड़ी देखते हैं, जब महाराना ने अकबर को सुलह के लिए चिट्ठी लिख भेजी। बीकानेर का राजकुमार पृथ्वीराज अकबर के दरबार में रहता था। इस चिट्ठी को देखकर वह अकबर से कहने लगा कि यह पत्र प्रताप का नहीं है। मैं प्रताप को एक पत्र लिखकर इसका पता लेना चाहता हूँ। यह पृथ्वीराज कवि था। उसने मारवाड़ी बोली में एक कविता द्वारा महाराना से अपील की कि तुम अकेले हिन्दुओं की नाक हो। सारे देश के हिन्दुओं की आँखें तुम्हारी ओर लगी हैं। इस म्लेच्छ के तेज के सामने शेष सब मात पड़ गये हैं। केवल एक महाराना प्रताप है जो सूर्य्य के समान चमक रहा है। हिन्दू-जाति की लाज प्रताप के हाथ में है। क्या यह आश्चर्य नहीं है कि प्रताप भी जाति की लाज खो देने पर तैयार हो रहा है। इसी प्रकार जब औरंगजेब ने हिन्दुओं पर अत्याचार करना शुरू किया तब कहा जाता है कि उदयपुर के ही महाराना राजसिंह ने औरंगजेब को एक चिट्ठी लिखकर कहा कि खुदा हिन्दू और मुसलमानों का एक ही है। हिन्दू मन्दिरों में उसे याद करते हैं। मुसलमान मस्जिदों में। साधु और ब्राह्मणों को, जो चिउँटियों के समान हैं, क्यों तंग करते हो? मैं हिन्दू जाति का सरदार हूँ, इसलिए तुम्हारा कर्त्तव्य है कि पहले मुझ पर जजिया लगाओ। राजपूतों के इतिहास में ये दृष्टान्त स्पष्ट बताते हैं कि समस्त जाति अपने आपको हिन्दू कहने में बड़ा अभिमान समझती थी।

इस नवीन युग में हिन्दू-शब्द पर दो ओर से आक्षेप किये जाते हैं। एक ओर तो कांग्रेस-वादी हैं जो कहते हैं कि हिन्दू एक फिरका है। इसलिए इस शब्द को छोड़कर एक नई जाति इंडियन या हिन्दुस्तानी बनानी चाहिए ताकि मुसलमान, ईसाई आदि भी इस जाति में सम्मिलित हो सकें। प्रथम तो मैं इस कथन को इसलिए व्यर्थ समझता हूँ कि बाईस-तेईस करोड़ संख्यावाली और एक बड़ा ऊँचे दर्जे का बूत रखनेवाली जाति को फिरका या कॉम्युनिटी (Community) कहना निपट मूर्खता है। और, यह नीति बिलकुल गलत है कि मुसलमानों या ईसाइयों को जाति के अन्दर सम्मिलित करने के लिए हम एक महान् जाति के नाम और उसके अन्दर से जातीयता के भाव को नष्ट कर दें। इसके सम्बन्ध में दूसरी बात मैं यह कहना चाहता हूँ कि हिन्दुस्तानी या इंडियन नाम रखना फिजूल है, क्योंकि हिन्दुस्तान का अर्थ हिन्दुओं के रहने का स्थान है। 'हिन्दुस्तानी' का अर्थ हिन्दुओं के निवासस्थान में रहनेवाले के हो जाते हैं और यह एक निरर्थक बात बन जाती है। वास्तव में हिन्दू और हिन्दुस्तानी का एक ही अर्थ है। जो मुसलमान हिन्दू या ईसाई कहलवाना नहीं पसन्द करते वे मुसलमान नाम छोड़कर हिन्दुस्तानी कहलवाना भी न पसन्द करेंगे। इँगलैंड के लोग अपनी जाति इँग्लिश बताते हैं। जर्मनी के जर्मन। यदि मुसलमान अपना पृथक् मजहब रखते हुए अपनी जाति हिन्दू बताने लगें तो इसमें कोई हर्ज नहीं मालूम होता। लेकिन वे ऐसा तब करेंगे जब अपनी कौमियत या जातीयता को मज़हब से पृथक् करना सीखेंगे। जब तक उनकी कौमियत उनके मजहब में है तब तक वे न हिन्दू-नाम स्वीकार करेंगे, न हिन्दुस्तानी। मैं यह बात कई अवसरों पर बता चुका हूँ कि अन्य देश, जैसे अमरीका आदि के रहनेवाले, 'हिन्दू' जाति का नाम समझते हैं। मैं जब अमरीका में था तब मुझसे एक अमरीकन सज्जन ने पूछा—क्या सभी हिन्दू मुसलमान होते हैं? कारण यह था कि वह पहले एक-दो हिन्दुस्तानी मुसलमानों से मिल चुका था जिन्होंने उसे बताया था कि वे हिन्दुस्तान के रहनेवाले हैं और वह, जैसा कि अमरीका में नियम है, उन्हें हिन्दू समझता था।

दूसरा आक्षेप उन लोगों की ओर से किया जाता है जो यह कहते हैं कि 'हिन्दू' संस्कृत का शब्द नहीं है, हमारा वास्तविक नाम 'आर्य' है। इसके विषय में मैं यह कहना चाहता हूँ कि 'आर्य' जाति का नाम नहीं है, किन्तु उस नस्ल का नाम है जिसमें ईरानी, यूनानी, स्कैंडेनेवियन, जर्मन, अँगरेज आदि सम्मिलित हैं। इसी लिए हम भारतवासी इंडो-आर्यन अर्थात् हिन्दू-आर्य कहे जाते हैं। केवल आर्य कहकर हम अपनी जाति को अन्य जातियों से भेद नहीं कर सकते। इसके अतिरिक्त आर्य-शब्द वेदों तथा शास्त्रों में जहाँ कहीं आया वहाँ इसका अर्थ श्रेष्ठ मनुष्य है। वेद मनुष्य को आर्य और दस्यु, अर्थात् अच्छे और बुरे, दो

भागों में बाँटते हैं। कल्पनास्वरूप यदि हम जाति का नाम हिन्दू की जगह आर्य ही मान लें तो इसका फल यह होगा कि दक्षिणी भारत के समस्त द्रविड़ जो अपने आपको हिन्दू मानने पर तैयार हैं, आर्य-जाति से बाहर हो जायँगे। और, क्योंकि आर्य-समाज-प्रचार के कारण 'आर्य' शब्द आर्य-समाजियों का-सा बन गया है, इसलिए आर्य-समाजियों को छोड़कर अन्य हिन्दू इस शब्द को ग्रहण करने पर तैयार न होंगे। मुसलमानों का तो कहना ही क्या जो आपत्तिजनक 'हिन्दू'-शब्द से घबराते हैं।

१९३१

❀ ❀ ❀

नदिया-गौरव

श्री नलिनीमोहन सान्याल

श्रीचैतन्यदेव और रघुनाथ शिरोमणि के समय में नवद्वीप ने गौरव के शिखर-देश पर आरोहण किया था। इस समय न्यायशास्त्र के अध्यापन का प्राधान्य मिथिला से उठकर नवद्वीप में चला आया था और नवद्वीप को उपाधि-दान का अधिकार मिला था। इसी समय प्रसिद्ध स्मृति-शास्त्र-संस्कारक रघुनन्दन स्मार्त भट्टाचार्य और तन्त्र-शास्त्र के संग्रहकर्त्ता कृष्णानन्द आगमवागीश का जन्म हुआ था और उनके द्वारा हिन्दू-समाज का सुप्रबन्ध तथा उसकी दुर्नीति का निराकरण हुआ था। इसी समय भगवान् श्री चैतन्य का अवतार हुआ था और वङ्गदेश भक्तिस्रोत से प्लावित हुआ था। इसी समय भक्ति-शास्त्र तथा बंगला-पदावली-साहित्य का सूत्रपात हुआ था जिसके द्वारा पीछे बंगाली लोग भाव-राज्य के अधिकारी हुए और वङ्गभाषा पुनीत, अलंकृत और परिमार्जित हुई। ज्योतिष-शास्त्र की चर्चा भी इस समय कम न थी। यहाँ के प्रसिद्ध नैयायिक (रघुनाथ और चैतन्यदेव के गुरु) वासुदेव सार्वभौम अभी तक जीवित थे और उत्कल के राजा गजपति प्रतापरुद्र के द्वार-पण्डित होकर पुरीधाम में विराज रहे थे। ये महात्मा पहले मायावादी वेदान्तिक थे, किन्तु जब श्री चैतन्य ने नीलाचल (पुरी-धाम) को अपना वासस्थान बनाया तब उनकी अलौकिक भक्ति से आकृष्ट हो वासुदेव ने उनका शिष्यत्व ग्रहण कर उनकी अन्तरंग सहचर-गोष्ठी में प्रवेश-लाभ किया था।

वैष्णव-ग्रन्थों से नवद्वीप का जो विवरण मिलता है उससे जाना जाता है कि नवद्वीप उस समय अति समृद्ध नगर था, किन्तु आजकल उस समृद्धि के शतांश का एक अंश भी विद्यमान नहीं है। भागीरथी माता की गति के बार-बार परिवर्तन के कारण नगर का भीषण परिवर्तन हो गया है। अब तो भागीरथी ने नगर के पूर्व में प्रवाहित होकर नवद्वीप को नदिया जिले से विच्छिन्न कर दिया है। गौरव के समय के जितने चिह्न—मन्दिरादि, श्रीचैतन्य जन्मस्थान, वासुदेव सार्वभौम, रघुनन्दन, कृष्णानन्द इत्यादि के भवन और चतुष्पाठियाँ, 'श्रीवास-अंगन', 'हरिघोष का गोयाल'* इत्यादि थे, अब नदी-गर्भ में विलीन हो गये हैं। आधुनिक नवद्वीप तो प्राचीन नवद्वीप का कंकाल-मात्र है। अब नवद्वीप से शान्तिपुर जाने में पार उतरना पड़ता है।

चैतन्यदेव के समय के नवद्वीप को यदि हम एक विराट् पाठशाला कहें तो अत्युक्ति न होगी। छात्रों से ही नवद्वीप आठों पहर गुलजार रहता था। गली गली चतुष्पाठियाँ थीं। किसी में व्याकरण और काव्य-मात्र की पढ़ाई होती थी, किसी में इनके अतिरिक्त धर्म-शास्त्र का भी पाठ दिया जाता था? व्याकरण सब छात्रों को अवश्य समाप्त करना पड़ता था। उसके अनन्तर कोई सब काव्य-नाटकादि अध्ययन कर, कोई कुछ काव्य-मात्र पढ़कर, कोई बिना काव्य पढ़े स्मृति वा न्याय का अध्ययन आरम्भ करते थे।

---

*बंगला 'गोयाल' शब्द गोशाला का अपभ्रंश है। रघुनाथ की चतुष्पाठी हरिघोष की गोशाला में बैठती थी।